अर्हत् प्रवचन

सम्पादक
पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

प्रकाशक
आत्मोदय ग्रन्थमाला, जयपुर

प्रकाशक
आत्मोदय ग्रंथमाला
जैन संस्कृत कालेज
मणिहारों का रास्ता, जयपुर

प्रथम संस्करण
सितम्बर १९६२

मूल्य ३.५० न.पै.

मुद्रक
अजन्ता प्रिन्टर्स
जयपुर

मुख पत्र

जम्मणमरणजलोधं दुखयरकिलेससोगवीचीयं ।
इय संसार-समुद्दं तरंति चदुरंगणावाए ॥

यह संसार समुद्र जन्म मरण रूप जल प्रवाह वाला, दुःख क्लेश और शोक रूप तरंगों वाला है। इसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप रूप चतुरंग नाव से मुमुक्षुजन पार करते हैं।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव ।
चउरो चिट्ठहि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र तथा सम्यक्तप ये चारों आत्मा में ही हैं इसलिए आत्मा ही मेरा शरण है।

विषय-सूची

उपोद्घात

प्रस्तुत ग्रन्थ एक संकलनात्मक रचना है। इस में आचार्य कुंदकुंद, स्वामी वट्टकेर, स्वामी कार्त्तिकेय तथा आचारांग आदि आगम साहित्य एवं कुछ अन्य आचार्यों के सूक्तों का संग्रह है। ये सभी सूक्त प्राकृत भाषा में हैं। ये सूक्त भगवान महावीर की परम्परा से आये हुए हैं; इसी लिए इस संग्रह का नाम अर्हत्-प्रवचन है। इन सूक्तों को हम जीवनसूत्र भी कह सकते हैं। इन से मनुष्य को सचमुच बड़ी प्रेरणा मिलती है। ये दैनिक स्वाध्याय के लिए बड़े उपयोगी हैं। इनके संग्रह को हम किसी भी नागरिक की आचार संहिता कह सकते हैं। जीवन निर्माण में इसका अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता है। यह एक ऐसी तत्त्व मीमांसा है जो सभी संप्रदायों को स्वीकार्य है। इन सूक्तों में धर्म के उन मूलतत्त्वों का वर्णन है जो मनुष्य के व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक जीवन का दिशानिर्देश करते हैं। जिनमें न आग्रह है और न विग्रह। इनके अध्ययन से पता चलता है कि इनमें निवृत्ति में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति में निवृत्ति का समर्थन है। मनुष्य का जीवन जब तक प्रवृत्ति निवृत्ति मय न हो तब तक सफल नहीं कहा जा सकता। हिंसा की निवृत्ति के साथ अहिंसा की प्रवृत्ति आवश्यक है, नहीं तो मनुष्य दया, करुणा आदि प्रवृत्तियों की ओर कैसे आकृष्ट हो सकता है। दया में देने की प्रेरणा और करुणा में करने की प्रेरणा छिपी रहती है और इस प्रकार की प्रेरणाएं तो प्रवृत्तिमय ही होती हैं। अगर ऐसा न हो तो दया, करुणा आदि का पाखंड ही कहलावेगा। असत्य के परित्याग का अर्थ है सत्य में प्रवृत्ति। इसी तरह हरएक जगह मनुष्य को निवृत्ति में प्रवृत्ति का समन्वय देखने की जरूरत है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक मनुष्य के चारों ही पुरुषार्थ प्रवृत्ति-निवृत्त्यात्मक हैं। इन सूक्तों में न एकांत प्रवृत्ति का समर्थन है और न एकान्त निवृत्ति का; क्यों कि इन दोनों का ही एकांत एक आग्रह है जो अवश्य ही विग्रह को पैदा करता है। मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए इन सूक्तों का बहुत बड़ा महत्त्व है और इसी लिए यह संग्रह एक आवश्यक कदम है।

यह संग्रह १६ अध्यायों में विभक्त किया गया है। उन अध्यायों के नाम हैं:-१मंगल २ जीव अथवा आत्मा ३ कर्म ४ गुणस्थान ५ सम्यग्दर्शन ६ भाव ७ मन-इन्द्रिय-कषायविजय ८ श्रावक ९ आत्म-प्रशंसा पर-निन्दा

१० शील-संगति ११ भक्ति १२ धर्म १३ वैराग्य १४ श्रमण १५ तप १६ शुद्धोपयोगी आत्मा १७ प्रशस्त मरण १८ अजीव अथवा अनात्मा और १९ विविध।

इन सभी अध्यायों का यह क्रम मनोवैज्ञानिक है। पंच परमेष्ठियों का हम पर महान उपकार है, उसे प्रकट करने एवं मनः शुद्धि के लिए सर्व प्रथम उन्हें प्रणाम किया गया है। यही मंगल कहलाता है और इसी अध्याय से इस संग्रह का प्रारंभ होता है।

जीव अथवा आत्मा ही सारे जगत में प्रधान है। यही सारे प्रयोजनों का आधार है। इसकी यह महत्ता इसके ज्ञानात्मक होने के कारण है। जगत में कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो आत्मा से अधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी हो; इसलिए मंगल के वाद 'जीव अथवा आत्मा' नामक दूसरा अध्याय है।

आत्मा के अनादिकाल से कर्म लगे हुए हैं। संसार में इस की कोई ऐसी अवस्था नहीं होती जो कर्मकृत न हो। आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध सभी परिणतियों को समझने के लिए कर्म को जानना वहुत जरूरी है इस लिए 'जीव अथवा आत्मा' नामक अध्याय के वाद 'कर्म' नामक अध्याय आता है।

आत्म विकास का क्रम गुणस्थान कहलाता है। कर्मों के जान लेने के वाद ही ठीक रूप से गुणस्थान जाने जा सकते हैं; क्यों कि कर्मों का फल देना, उनका दवना और नष्ट होना आदि अवस्थाओं से उत्पन्न होने वाले भाव ही गुणस्थान कहलाते हैं इस लिए 'कर्म' नामक अध्याय के वाद आत्म विकास स्वरूप 'गुणस्थान' नामक अध्याय का क्रम है।

सम्यग्दर्शन के विना आत्मा मिथ्यात्व नामक पहले गुणस्थान के आगे किंचित् भी नहीं वढ़ सकता इसलिए गुणस्थानों का स्वरूप समझने के अवसर पर सम्यग्दर्शन का परिचय पाने की उत्कंठा होती है और यही कारण है कि गुणस्थान नामक अध्याय के वाद 'सम्यग्दर्शन' नामक अध्याय आता है।

सम्यग्दर्शन आत्मा का सर्वोत्कृष्ट भाव है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र भी उसके उत्कृष्ट भाव हैं। सम्यग्दर्शन के साथ आत्मा का भावात्मक सम्वन्ध है अतः आत्मा के भावों का-शुद्ध भावों का-जानना वहुत जरूरी है; इसीलिए सम्यग्दर्शन नामक अध्याय के वाद 'भाव' नामक अध्याय की संगति है।

आत्मा के शुद्ध भावों को उत्पन्न करने के लिए मन, इन्द्रिय और [illegible] पर विजय पाने की जरूरत है। इनकी विजय और शुद्धभावों का

कार्यकारण सम्बन्ध है इसलिए 'भाव' अध्याय के बाद 'मन-इन्द्रिय-कषाय विजय' नामक अध्याय का क्रम है।

इतनी श्रेणियां पार कर लेने के अनंतर ही मनुष्य श्रावक हो सकता है। श्रावकत्व के विकास के लिए इन सब की अनिवार्य आवश्यकता है अतः इनके बाद ही 'श्रावक' अध्याय की संगति बैठती है।

श्रावक का कर्तव्य है कि वह श्रमण जीवन की तैयारी करे और इसके लिए आवश्यक है कि वह आत्म-प्रशंसा और पर-निंदा करना छोड़ दे। श्रावक और श्रमण दोनों को ही अपनी मर्यादा में रहने के लिए ऐसी प्रवृत्तियों से दूर रहना चाहिए। श्रावक को शील, सत्संगति और भक्ति का महत्त्व समझना चाहिए तभी उसके जीवन में धर्म उतर सकता है और अशुचि, अनात्मक, दुःखमय तथा अनित्य संसार से वैराग्य पैदा हो सकता है। यहां वैराग्य का अर्थ बुराइयों से विरक्ति है, दुनियां से भागना नहीं है। जगत की यथार्थ स्थिति समझ कर उसमें आसक्त न होना ही वैराग्य है। आचार्य उमास्वामी ने संवेग और वैराग्य के लिए जगत और काय स्वभाव के चिंतन पर जोर दिया है। जैसा कि पहले कहा है वैराग्य कोई एकान्त निवृत्ति नहीं है; वह तो जीवन के प्रवृत्ति–निवृत्तिमय दो पहलुओं में से केवल एक है। दोनों के मिलने पर मानव जीवन का निर्माण होता है इसलिए उसके प्रति अनास्था का भाव उत्पन्न करने की जरूरत नहीं है।

'श्रावक' अध्याय के बाद 'आत्मप्रशंसा-परनिन्दा', 'शील-संगति', 'भक्ति', 'धर्म' और 'वैराग्य' नामक अध्यायों की कड़ियां एक दूसरे से शृंखला की कड़ियों की तरह मिली हुई हैं और इसीलिए इनका क्रम एक दूसरे के बाद रक्खा गया है।

इसके पश्चात् 'श्रमण' अध्याय का क्रम आता है। इसके पहले के १२ अध्यायों में श्रमणत्व के योग्य बनने के व्यवस्थित अभ्यास हैं। इन अभ्यासों में कोई परेशानी नहीं होती। ये सहज रूप से स्वयं ही हो जाते हैं। इन के बाद श्रमणत्व की साधना चलती है। आत्मत्व की प्राप्ति के लिए जो लोग आध्यात्मिक श्रम करते हैं वे श्रमण कहलाते हैं। श्रमण के लिए तप और अपने उपयोग को शुद्ध बनाये रखने की अनिवार्य आवश्यकता है; इसलिए इस अध्याय के अनंतर क्रमशः 'तप' और 'शुद्धोपयोगी आत्मा' नामक अध्याय हैं।

'मरण' जीवन की एक अनिवार्य घटना है फिर भी मनुष्य उससे घबड़ाता है। श्रावक या श्रमण दोनों की साधना तभी सफल हो सकती है जब वे निर्भय होकर मौत का स्वागत करें। मृत्यु को अनातंकित होकर झेलना श्रमण जीवन की सबसे बड़ी सफलता है; अतः उन दोनों अध्यायों के बाद 'प्रशस्तमरण' नामक अध्याय आता है।

इन १७ अध्यायों में आत्मा और आत्मा से सम्बन्धित विषयों का वर्णन है; किन्तु आत्मा के अतिरिक्त जो अन्य पदार्थ हैं उनका ज्ञान होना भी जरूरी है इसलिए प्रशस्त-मरण के अनंतर 'अजीव अथवा अनात्मा' नामक अध्याय आता है ।

और सब के अन्त में विविध विषयों की गाथाओं का संकलन करने वाला 'विविध' नामक अध्याय है। यही इस संग्रह के अध्यायों की संगति का क्रम है।

अब इन अध्यायों के विषय में क्रमशः कुछ ज्ञातव्य तत्त्वों का विवेचन किया जाता है।

मंगल

जैन शास्त्रों में मंगल शब्द के दो अर्थ हैं। मं (पाप) को गालने वाला और मंग (सुख) को लाने वाला। परमात्मा एवं महात्माओं को प्रणाम करने से मनुष्य के पाप गल जाते हैं और उसके फल स्वरूप उसे सुख की प्राप्ति होती है। मनोयोग पूर्वक प्रणाम करने से जो आत्मा में विशुद्धि उत्पन्न होती है उसी के क्रमशः ये दोनों फल हैं। जैन शास्त्रों में जिन पांच परमेष्ठियों का वर्णन है उन में अरहंत और सिद्ध ये दोनों परमात्मा एवं आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये तीनों महात्मा हैं। इस मंगल के अपराजित मंत्र में अरहंतों को पहले और सिद्धों को उन के बाद प्रणाम किया गया है। यों यह क्रम असंगत जान पड़ता है; पर वास्तव में ऐसा नहीं है। अरहंत सिद्ध की तरह पूर्ण मुक्तात्मा नहीं होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति का कारण है। उसी के द्वारा धर्मचक्र का प्रवर्त्तन होता है। सिद्ध तो शरीर-रहित आत्मा को कहते हैं। उसके द्वारा तीर्थ का प्रणयन नहीं हो सकता। उसके लिए शरीर चाहिए। यह जगत उद्धार का पुनीत कार्य अरहंत (तीर्थंकर) के द्वारा ही हो सकता है; इस दृष्टि से अरहंत (जीवन्मुक्त आत्मा-तीर्थंकर) शरीर मुक्त सिद्धों की अपेक्षा अधिक उपकारी है और इसी उपकार के कारण उन्हें सर्व प्रथम प्रणाम किया गया है।

यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि परमात्मा, भक्त का न स्वयं दुख दूर करते हैं और न उसे सुख देते हैं। किसी का इष्ट अथवा अनिष्ट करना रागद्वेष के विना नहीं हो सकता और परमात्मा में इन दोनों का अभाव है। इन दोनों के सर्वथा अभाव हुए बिना कोई परमात्मा नहीं बन सकता; फिर भी यह सही है कि परमात्मा की भक्ति से शुभ भाव उत्पन्न होते हैं और उन्ही से दुख का विनाश और सुख की प्राप्ति होती है। परमात्मा भक्त का स्वयं कुछ नहीं करने पर भी वह उस के दुख-विनाश

और सुख का निमित्त कारण अवश्य है। महाभारत के मिट्टी के द्रोणाचार्य से पढ़ कर एकलव्य धनुर्विद्या का ऐसा अद्वितीय विद्वान बन गया जिसकी समानता न साक्षात् द्रोणाचार्य का प्रधान शिष्य अर्जुन कर सकता था और न अन्य कोई धनुर्धारी। किन्तु यह इतना बडा काम द्रोणाचार्य का न था, पर उसमें द्रोणाचार्य निमित्त कारण जरूर थे। किसी सुन्दर स्त्री या सुन्दर स्त्री की तस्वीर देख कर किसी के मन में विकार उत्पन्न हो तो इसका अर्थ यह नहीं है कि यह विकार उसने उत्पन्न किया है, पर वह उस में निमित्त कारण जरूर है। छाणों की अग्नि मुझे पढ़ा रही है यहां अग्नि असहाय छात्र के पढ़ाने में निमित्त तो है पर कर्त्ता नहीं है। इसी तरह परमात्मा प्रशस्त भावों के बनने में कारण है वह उनका उत्पत्ति कर्त्ता नहीं है।

जैन दर्शन सांख्य दर्शन की तरह ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करता- उस ईश्वर की-जो जगत का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता माना जाता है; फिर भी जैन वाङ्मय में ईश्वर शब्द का प्रयोग हुआ है और उसका अर्थ है विकार के कारण सारे बंधनों से रहित परमात्मा। उस परमात्मा एवं उसी तरह परमात्मा बनने के लिए निरंतर उद्यमशील रहने वाले महात्माओं को प्रणाम करने एवं उनकी भक्ति से आत्मा के भावों में निर्मलता आती है और उसी निर्मलता से पापों का नाश और आत्मशांति प्राप्त होती है, यही जैन शास्त्रों में मंगल का प्रयोजन है।

जीव अथवा आत्मा

जीव अथवा आत्मा एक अत्यन्त परोक्ष पदार्थ है। संसार के सभी दार्शनिकों ने इसे तर्क से सिद्ध करने की चेष्टा की है। स्वर्ग, नरक, मुक्ति आदि अति परोक्ष पदार्थों का मानना भी आत्मा के अस्तित्व पर ही आधारित है। आत्मा न हो तो इन पदार्थों के मानने का कोई प्रयोजन नहीं है। यही कारण है कि जीवके स्वतन्त्र अस्तित्व का निषेध करने वाला चार्वाक इन पदार्थों के अस्तित्व को कतई स्वीकार नहीं करता। आत्मा का निषेध सारे ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्ड के निषेध का एक अभ्रांत प्रमाण पत्र है। पार-लौकिक जीवन से निरपेक्ष लौकिक जीवन को समुन्नत और सुखकर बनाने के लिए भी यद्यपि ज्ञानाचार और क्रियाचार की जरूरत तो है और इसे किसी न किसी रूप में चार्वाक भी स्वीकार करता है तो भी परलोकाश्रित क्रियाओं का आत्माआदि पदार्थों का अस्तित्व नहीं मानने वालों के मत में कोई मूल्य नहीं है।

जैन दर्शन एक आस्तिक दर्शन है। वह आत्मा और इससे सम्बन्धित स्वर्ग, नरक और मुक्ति आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। आत्मा के

सम्बन्ध में उसके समन्वयात्मक विचार हैं। वह अनेकान्तवादी दर्शन होने के कारण आत्मा को भी विभिन्न दृष्टिकोणों से देखता है। उसके विभिन्न धर्मों और स्वभावों की ओर जब उसका ध्यान जाता है तब उसके (आत्मा के) नाना रूप उसके सामने आते हैं और वह उन्हीं रूपों अथवा गुणधर्मों एवं स्वभावों को विभिन्न अपेक्षा मानकर आत्मा की दार्शनिक विवेचना करता है। यह विवेचना आत्मा के सारे रूप उसके सामने ला देती है। और इस प्रकार उसके वर्णन को सर्वाङ्गीण विवेचन कहा जा सकता है।

आत्मा का वर्णन करने के लिए जैन-दर्शन ये नौ विशेषतायें बतलाता है :—

१ वह जीव है, २ उपयोगमय है, ३ अमूर्त्त है, ४ कर्त्ता है, ५ स्वदेह परिमाण है, ६ भोक्ता है, ७ संसारस्थ है, ८ सिद्ध है और ९ स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

पहले हमने कहा है कि चार्वाक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानता, उसीको लक्ष्य करके 'जीव' नामका पहला विशेषण है। जीव सदा जीता रहता है, वह अमर है, कभी नहीं मरता। उसका वास्तविक प्राण चेतना है जो उसकी तरह ही अनादि और अनन्त है। उसके कुछ व्यावहारिक प्राण भी होते हैं जो विभिन्न योनियों के अनुसार बदलते रहते हैं। इन प्राणों की संख्या दस है, पांच ज्ञानेन्द्रियां, मनोबल, वचनबल और कायबल यह तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु। यह दस प्राण मनुष्य, पशुपक्षी देव और नारकियों के होते हैं। इनके अतिरिक्त भी दुनियां में अनन्तानन्त जीव होते हैं। जैसे वृक्ष लता आदि, लट आदि, चींटी आदि, भ्रमर आदि और गोहरा आदि। इन जीवों के क्रमशः चार, छह, सात, आठ और नौ प्राण होते हैं। आत्मा नाना योनियों में विभिन्न शरीरों को प्राप्त करता हुआ कर्मानुसार अपने व्यावहारिक प्राणों को बदलता रहता है, किन्तु चेतना की दृष्टि से न वह मरता है और न जन्मधारण करता है। शरीर की अपेक्षा वह भौतिक होने पर भी आत्मा की अपेक्षा वह अभौतिक है। जीव की व्यवहारनय और निश्चयनय की अपेक्षा कथंचित् भौतिकता और कथंचित् अभौतिकता मानकर जैनदर्शन इस विशेषण के द्वारा चार्वाक आदि के साथ समन्वय करने कीक्षमता रखता है। यही उसके स्याद्वाद की विशेषता है।

आत्मा का दूसरा विशेषण उपयोगमय है

आत्मा उपयोगमय है, अर्थात् ज्ञानदर्शनात्मक है। यह विशेषण नैयायिक एवं वैशेपिक दर्शन को लक्ष्य करके कहा गया है। यह दोनों दर्शन आत्मा को ज्ञान का आधार मानते हैं। जैनदर्शन भी आत्मा को आधार और

ज्ञान को उसका आधेय मानता है। आत्मा गुणी और ज्ञान उसका गुण है। गुण गुणी में आधार आधेय भाव होता है। जब अखण्ड आत्मा में उसके गुणों की दृष्टि से भेद कल्पना की जाती है तब आत्मा को ज्ञानाधिकरण माना जाना युक्ति संगत है, यह मानना कथंचित् है। और एक दूसरी दृष्टि भी है जिससे आत्मा को ज्ञानाधिकरण नहीं, किन्तु ज्ञानात्मक मानना ही अधिक युक्ति संगत है। प्रश्न यह है कि क्या आत्मा को कभी ज्ञान से अलग किया जा सकता है? आत्मा और ज्ञान जब किसी भी अवस्था में भिन्न नहीं हो सकते तब उसे ज्ञान का आश्रय मानने का आधार क्या है? इस दृष्टि से तो आत्मा ज्ञान का आधार नहीं अपितु उपयोगमय अर्थात् ज्ञानदर्शनात्मक ही है।

आत्मा का तीसरा विशेषण है अमूर्त्त। यह विशेषण भट्ट और चार्वाक दोनों को लक्ष्य करके कहा गया है। ये दोनों दर्शन जीवको अमूर्त्त नहीं मूर्त्त मानते हैं; किन्तु जैनदर्शन की मान्यता है कि वास्तव में आत्मा में आठ प्रकार के स्पर्श, पांच प्रकार के रूप, पांच प्रकार के रस और दो प्रकार के गंध, इन बीस प्रकार के पौद्गलिक गुणों में से एक भी गुण नहीं है; इस लिए आत्मा मूर्त्त नहीं; अपितु अमूर्त्त है। तो भी अनादिकाल से कर्मों से बंधा हुआ होने के कारण व्यवहार दृष्टि से उसे मूर्त्त भी कहा जा सकता है। इस प्रकार आत्मा को कथंचित् अमूर्त्त और कथंचित् मूर्त्त कह सकते हैं। अर्थात शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा वह अमूर्त्त और कर्मबंध रूप पर्याय की अपेक्षा मूर्त्त है। यदि उसे सर्वथा मूर्त्त ही माना जाय तो उसके भिन्न अस्तित्व का ही लोप हो जाय तथा पुद्गल और उसमें कोई भिन्नता ही नहीं रहे। जैन दर्शन की समन्वय दृष्टि उसे दोनों मानती है, और यही तर्क सिद्ध भी है।

आत्मा का चौथा विशेषण है:—कर्त्ता। यह विशेषण उसे सांख्य दर्शन को लक्ष्य करके दिया गया है। यह दर्शन आत्मा को कर्त्ता नहीं मानता। उसे केवल भोक्ता मानता है। कर्तृत्व तो केवल प्रकृति में है, किन्तु जैनदर्शन सांख्य के इस अभिमत से सहमत नहीं है। बल्कि उसका कहना है कि आत्मा व्यवहार नय से पुद्गल कर्मों का, अशुद्ध निश्चयनय से चेतनकर्मों (राग-द्वेषादि) का और शुद्ध निश्चय नय से अपने ज्ञानदर्शनादि शुद्धभावों का कर्त्ता है। इस प्रकार वह एक दृष्टि से कर्त्ता और दूसरी दृष्टि से अकर्त्ता है। यदि आत्मा को कर्त्ता न माना जाय तो उसे भोक्ता भी कैसे माना जा सकता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व का कोई विरोध नहीं है। यदि इन दोनों में विरोध माना जाय तब तो आत्मा को 'भुजि' क्रिया का कर्त्ता भी कैसे माना जा सकता है? इस प्रकार आत्मा के कर्त्तृत्व को न स्वीकार करने का अर्थ है उसका भोक्तृत्व भी न मानना। इसलिए यदि उसे भोक्ता मानना है तो कर्त्ता भी जरूर मानना चाहिए।

आत्मा का पांचवा विशेपण है 'भोक्ता'। यह विशेपण बौद्धदर्शन को लक्ष्य करके कहा गया है। यह दर्शन क्षणिकवादी होनेके कारण कर्त्ता और भोक्ता का ऐक्य मानने की स्थिति में नहीं है किन्तु यदि आत्मा को कर्मफल का भोक्ता नहीं माना जाय तो कृतप्रणाश और अकृत के अभ्यागम का प्रसंग आवेगा अर्थात् जो कर्म करेगा उसे उसका फल प्राप्त न होकर उसे प्राप्त होगा जिसने कर्म नहीं किया है और इससे वहुत वड़ी अव्यवस्था हो जायगी। इसलिए आत्मा को अपने कर्मों के फल का भोक्ता अवश्य मानना चाहिए। हां यह वात अवश्य है कि आत्मा सुखदुःख रूप पुद्गल कर्मों का भोक्ता व्यवहार दृष्टिसे है। निश्चय दृष्टिसे तो वह अपने चेतन भावोंका ही भोक्ता है, कर्मफल का भोक्ता नहीं है। इसलिए वह कथंचित् भोक्ता और कथंचित् अभोक्ता है।

आत्मा का छठा विशेषण 'स्वदेह परिमाण' है। इसका अर्थ है इस आत्मा को जितना वड़ा शरीर मिलता है उसीके अनुसार इसका परिमाण हो जाता है। यह विशेपण नैयायिक, वैशेपिक, मीमांसक और सांख्य इन चार दर्शनों को लक्ष्य करके कहा गया है। क्यों कि ये चारों ही दर्शन आत्माको व्यापक मानते हैं। यद्यपि उसका ज्ञान शरीरावच्छेदेन (शरीर में) ही होता है तो भी उसका परिमाण शरीर तक ही सीमित नहीं है वह सर्वव्यापक है। जैनदर्शन का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि आत्मा के प्रदेशों का दीपक के प्रकाश की तरह संकोच और विस्तार होता है। हाथी के शरीर में उसके प्रदेशों का विस्तार और चींटी के शरीर में संकोच हो जाता है। किन्तु यह वात समुद्घात दशा के अतिरिक्त समय की है। समुद्घात में तो उसके प्रदेश शरीर के वाहर भी फैल जाते हैं यहां तक कि वे सारे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। यहां यह वात ध्यान देने योग्य है कि आत्मा स्वशरीर परिमाण वाला व्यवहार नय से है। निश्चय नय से तो वह लोकाकाश की तरह असंख्यात प्रदेशी है अर्थात् लोक के वरावर वड़ा है। यही कारण है कि वह लोक पूरण समुद्घात में सारे लोक में फैल जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन आत्मा को कथंचित् व्यापक और कथंचित् अव्यापक मानता है और उक्त चारों दार्शनिकों के साथ इसका समन्वय हो जाता है।

आत्मा का सातवां विशेपण है 'संसारस्थ'। यह विशेपण 'सदा शिव' दर्शन को लक्ष्य करके कहा गया है। इसका अर्थ है आत्मा कभी संसारी नहीं होता, वह हमेशा ही शुद्ध वना रहता है। कर्मों का उस पर कोई असर ही नहीं होता, कर्म उसके हैं ही नहीं, इस संवंध में जैनदर्शन का दृष्टिकोण यह है कि हर एक जीव संसारी होकर मुक्त होता है। पहले उसका संसारी

होना जरूरी है। संसारी जीव शुक्ल ध्यान के बल से कर्मों का संवर, निर्जरा और पूर्ण क्षय करके मुक्त होता है। संसारी का अर्थ है अशुद्ध जीव। अनादिकाल से जीव अशुद्ध है और वह अपने पुरुषार्थ से शुद्ध होता है। यदि पहले जीव संसारी न हो तो उसे मुक्ति के लिए कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु जैनदर्शन का यह भी कहना है कि जीव को संसारस्थ कहना व्यवहारिक दृष्टिकोण है। शुद्ध नय से तो सभी जीव शुद्ध हैं। इस प्रकार जैन दर्शन जीव को एक नय से विकारी मानकर भी दूसरी नय से अविकारी मान लेता है। यह जैन दर्शन का समन्वयात्मक दृष्टिकोण है।

आत्मा का आठवां विशेषण है 'सिद्ध'। इसका अर्थ है ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित। यह विशेषण भट्ट और चार्वाक को लक्ष्य करके दिया गया है। भट्ट मुक्ति को स्वीकार नहीं करता। उसके मत में आत्मा का अन्तिम आदर्श स्वर्ग है। जो मुक्ति को स्वीकार नहीं करता वह आत्मा का सिद्ध विशेषण कैसे मान सकता है? उसके मत में आत्मा सदा संसारी ही रहता है, उसकी मुक्ति कभी होती ही नहीं अर्थात मुक्ति नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है। चार्वाक तो जब जीव की सत्ता ही नहीं मानता तब मुक्ति को कैसे स्वीकार कर सकता है? वह तो स्वर्ग का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करता। इसलिए भट्ट से भी वह एक कदम आगे है। पर इस सम्बन्ध में जैन दर्शन का कहना है कि आत्मा अपने कर्म बन्धन काट कर सिद्ध हो सकता है। जो यह बन्धन नहीं काट सकता वह संसारी ही बना रहता है। आत्मा का संसारी और मुक्त होना दोनों ही तर्क सिद्ध हैं। जैन दर्शन में कुछ ऐसे जीव अवश्य माने गये हैं जो कभी सिद्ध नहीं होंगे। ऐसे जीवों को अभव्य कहते हैं। उन जीवों की अपेक्षा आत्मा के सिद्धत्व विशेषण का मेल नहीं बैठता ये ही इनके साथ समन्वय है। किन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि उन जीवों में सिद्ध बनने की शक्ति अथवा योग्यता तो है ही।

आत्मा का नौवां विशेषण है 'स्वभाव से ऊर्ध्व गमन'। यह विशेषण मांडलिक ग्रन्थकार को लक्ष्य करके कहा गया है। इसका अर्थ है आत्मा का वास्तविक स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। इस स्वभाव के विपरीत यदि उसका गमन होता है तो इसका कारण कर्म है। कर्म उसे जिधर ले जाता है उधर ही वह चला जाता है। जब वह सर्वथा कर्मरहित हो जाता है तब तो अपने वास्तविक स्वभाव के कारण ऊपर ही जाता है और लोक के अग्रभाग में जाकर ठहर जाता है। उसके आगे धर्मास्तिकाय नहीं होने के कारण वह नहीं जा सकता। इस सम्बन्ध में मांडलिक का यह कहना है कि जीव सतत

आत्मा का पांचवा विशेषण है 'भोक्ता'। यह विशेषण बौद्धदर्शन को लक्ष्य करके कहा गया है। यह दर्शन क्षणिकवादी होनेके कारण कर्त्ता और भोक्ता का ऐक्य मानने की स्थिति में नहीं है किन्तु यदि आत्मा को कर्मफल का भोक्ता नहीं माना जाय तो कृतप्रणाश और अकृत के अभ्यागम का प्रसंग आवेगा अर्थात् जो कर्म करेगा उसे उसका फल प्राप्त न होकर उसे प्राप्त होगा जिसने कर्म नहीं किया है और इससे बहुत बड़ी अव्यवस्था हो जायगी। इसलिए आत्मा को अपने कर्मों के फल का भोक्ता अवश्य मानना चाहिए। हां यह बात अवश्य है कि आत्मा सुखदुःख रूप पुद्‌गल कर्मों का भोक्ता व्यवहार दृष्टिसे है। निश्चय दृष्टिसे तो वह अपने चेतन भावोंका ही भोक्ता है, कर्मफल का भोक्ता नहीं है। इसलिए वह कथंचित् भोक्ता और कथंचित् अभोक्ता है।

आत्मा का छठा विशेषण 'स्वदेह परिमाण' है। इसका अर्थ है इस आत्मा को जितना बड़ा शरीर मिलता है उसीके अनुसार इसका परिमाण हो जाता है। यह विशेषण नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक और सांख्य इन चार दर्शनों को लक्ष्य करके कहा गया है। क्यों कि ये चारों ही दर्शन आत्माको व्यापक मानते हैं। यद्यपि उसका ज्ञान शरीरावच्छेदेन (शरीर में) ही होता है तो भी उसका परिमाण शरीर तक ही सीमित नहीं है वह सर्वव्यापक है। जैनदर्शन का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि आत्मा के प्रदेशों का दीपक के प्रकाश की तरह संकोच और विस्तार होता है। हाथी के शरीर में उसके प्रदेशों का विस्तार और चींटी के शरीर में संकोच हो जाता है। किन्तु यह बात समुद्‌घात दशा के अतिरिक्त समय की है। समुद्‌घात में तो उसके प्रदेश शरीर के बाहर भी फैल जाते हैं यहां तक कि वे सारे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि आत्मा स्वशरीर परिमाण वाला व्यवहार नय से है। निश्चय नय से तो वह लोकाकाश की तरह असंख्यात प्रदेशी है अर्थात् लोक के बराबर बड़ा है। यही कारण है कि वह लोक पूरण समुद्‌घात में सारे लोक में फैल जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन आत्मा को कथंचित् व्यापक और कथंचित् अव्यापक मानता है और उक्त चारों दार्शनिकों के साथ इसका समन्वय हो जाता है।

आत्मा का सातवां विशेषण है 'संसारस्थ'। यह विशेषण 'सदा शिव' दर्शन को लक्ष्य करके कहा गया है। इसका अर्थ है आत्मा कभी संसारी नहीं होता, वह हमेशा ही शुद्ध बना रहता है। कर्मों का उस पर कोई असर नहीं होता, कर्म उसके हैं ही नहीं, इस संबंध में जैनदर्शन का दृष्टिकोण है कि हर एक जीव संसारी होकर मुक्त होता है। पहले उसका संसारी

होना जरूरी है। संसारी जीव शुक्ल ध्यान के बल से कर्मों का संवर, निर्जरा और पूर्ण क्षय करके मुक्त होता है। संसारी का अर्थ है अशुद्ध जीव। अनादिकाल से जीव अशुद्ध है और वह अपने पुरुषार्थ से शुद्ध होता है। यदि पहले जीव संसारी न हो तो उसे मुक्ति के लिए कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु जैनदर्शन का यह भी कहना है कि जीव को संसारस्थ कहना व्यवहारिक दृष्टिकोण है। शुद्ध नय से तो सभी जीव शुद्ध हैं। इस प्रकार जैन दर्शन जीव को एक नय से विकारी मानकर भी दूसरी नय से अविकारी मान लेता है। यह जैन दर्शन का समन्वयात्मक दृष्टिकोण है।

आत्मा का आठवां विशेषण है 'सिद्ध'। इसका अर्थ है ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित। यह विशेषण भट्ट और चार्वाक को लक्ष्य करके दिया गया है। भट्ट मुक्ति को स्वीकार नहीं करता। उसके मत में आत्मा का अन्तिम आदर्श स्वर्ग है। जो मुक्ति को स्वीकार नहीं करता वह आत्मा का सिद्ध विशेषण कैसे मान सकता है? उसके मत में आत्मा सदा संसारी ही रहता है, उसकी मुक्ति कभी होती ही नहीं अर्थात मुक्ति नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है। चार्वाक तो जब जीव की सत्ता ही नहीं मानता तब मुक्ति को कैसे स्वीकार कर सकता है? वह तो स्वर्ग का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करता। इसलिए भट्ट से भी वह एक कदम आगे है। पर इस सम्बन्ध में जैन दर्शन का कहना है कि आत्मा अपने कर्म बन्धन काट कर सिद्ध हो सकता है। जो यह बन्धन नहीं काट सकता वह संसारी ही बना रहता है। आत्मा का संसारी और मुक्त होना दोनों ही तर्क सिद्ध हैं। जैन दर्शन में कुछ ऐसे जीव अवश्य माने गये हैं जो कभी सिद्ध नहीं होंगे। ऐसे जीवों को अभव्य कहते हैं। उन जीवों की अपेक्षा आत्मा के सिद्धत्व विशेषण का मेल नहीं बैठता ये ही इनके साथ समन्वय है। किन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि उन जीवों में सिद्ध बनने की शक्ति अथवा योग्यता तो है ही।

आत्मा का नौवां विशेषण है 'स्वभाव से ऊर्ध्व गमन'। यह विशेषण मांडलिक ग्रन्थकार को लक्ष्य करके कहा गया है। इसका अर्थ है आत्मा का वास्तविक स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। इस स्वभाव के विपरीत यदि उसका गमन होता है तो इसका कारण कर्म है। कर्म उसे जिधर ले जाता है उधर ही वह चला जाता है। जब वह सर्वथा कर्मरहित हो जाता है तब तो अपने वास्तविक स्वभाव के कारण ऊपर ही जाता है और लोक के अग्रभाग में जाकर ठहर जाता है। उसके आगे धर्मास्तिकाय नहीं होने के कारण वह नहीं जा सकता। इस सम्बन्ध में मांडलिक का यह कहना है कि जीव सतत

गतिशील है, वह कहीं भी नहीं ठहरता चलता ही रहता है। जैन दर्शन उसकी इस बात को स्वीकार नहीं करता। वह उसे ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला मानकर भी उसे वहीं तक गमन करने वाला मानता है जहां तक धर्मद्रव्य है, यह द्रव्य गति का माध्यम है, ठीक ऐसे ही जैसे प्रकाश की गति का माध्यम ईथर और शब्द की गति का माध्यम वायु है। जहां गति का माध्यम खतम हो जाता है वहीं जीव की गति भी रुक जाती है। इस प्रकार जीव ऊर्ध्वगामी होकर भी निरन्तर ऊर्ध्वगामी नहीं है, यह जैन दर्शन की मान्यता है। आत्मा के इन नौ विशेषणों से यह अच्छी तरह जाना जा सकता है कि जैन दर्शन कहीं भी आग्रहवादी नहीं है उसके विचार सभी दार्शनिकों के साथ समन्वयात्मक हैं।

जैनधर्म का कर्मवाद

कर्म को समझने के लिए कर्मवाद को समझने की जरूरत है। वाद का अर्थ सिद्धान्त है। जो वाद कर्मों की उत्पत्ति, स्थिति और उनकी रस देने आदि विविध विशेपताओं का वैज्ञानिक विवेचन करता है—वह कर्मवाद है। जैन शास्त्रों में कर्मवाद का बड़ा गहन विवेचन है। कर्मों के सर्वांगीण विवेचन से जैन शास्त्रों का एक बहुत बड़ा भाग सम्बन्धित है। कर्मस्कंध-परमाणु समूह होने पर भी हमें दीखता नहीं। आत्मा, परलोक, मुक्ति आदि अन्य दार्शनिक तत्त्वों की तरह वह भी अत्यन्त परोक्ष है। उसकी कोई भी विशेपता इन्द्रिय गोचर नहीं है। कर्मों का अस्तित्व प्रधानतया आप्तप्रणीत आगम के द्वारा ही प्रतिपादित किया जाता है। जैसे आत्मा आदि पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये आगम के अतिरिक्त अनुमान का भी सहारा लिया जाता है, वैसे ही कर्मों की सिद्धि में अनुमान का आश्रय भी लिया गया है।

इस कर्मवाद को समझने के लिए सचमुच तीक्ष्णबुद्धि और अध्यवसाय की जरूरत है। जैन ग्रन्थकारों ने इसे समझने के लिए स्थान-स्थान पर गणित का उपयोग किया हैं। अवश्य ही यह गणित लौकिक गणित से बहुत भिन्न है। जहाँ लौकिक गणित की समाप्ति होती है वहां इस अलौकिक गणित का प्रारम्भ होता है। कर्मों का ऐसा सर्वांगीण वर्णन शायद ही संसार के किसी वाङ्मय में मिले। जैन शास्त्रों को ठीक समझने के लिये कर्मवाद को समझना अनिवार्य है।

कर्मों के अस्तित्व में तर्क

संसार का प्रत्येक प्राणी परतन्त्र है। यह पौद्गलिक (भौतिक) शरीर ही उसकी परतन्त्रता का द्योतक है। बहुत से अभाव और अभियोगों का वह

प्रतिक्षण शिकार बना रहता है वह अपने आपको सदा पराधीन अनुभव करता है। इस पराधीनता का कारण जैन शास्त्रों के अनुसार कर्म है। जगत में अनेक प्रकार की विषमताएं हैं। आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के अतिरिक्त जो प्राकृतिक विषमताएँ हैं उनका कारण मनुष्य कृत नहीं हो सकता। जब सब में एक सा आत्मा है तब मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट और वृक्ष-लताओं आदि के विभिन्न शरीरों और उनके सुख, दुःख आदि का कारण क्या है ? कारण के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। जो कोई इन विषमताओं का कारण है वही कर्म है—कर्म सिद्धान्त यही कहता है।

जैनों के कर्मवाद में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है, उसका अस्तित्व ही नहीं है। उसे जगत की विषमताओं का कारण मानना एक तर्क हीन कल्पना है। उसका अस्तित्व स्वीकार करने वाले दार्शनिक भी कर्मों की सत्ता अवश्य स्वीकार करते हैं। 'ईश्वर जगत के प्राणियों को उनके कर्मों के अनुसार फल देता है' उनकी इस कल्पना में कर्मों की प्रधानता स्पष्टरूप से स्वीकृत है। 'सब को जीवन की सुविधाएँ समान रूप से प्राप्त हों और सामाजिक दृष्टि से कोई नीच-ऊँच नहीं माना जाए'-मानव मात्र में यह व्यवस्था प्रचलित हो जाने पर भी मनुष्य की व्यक्तिगत विषमता कभी कम नहीं होगी। यह कभी सम्भव नहीं है कि मनुष्य एक से बुद्धिमान हों, एकसा उनका शरीर हो, उनके शारीरिक अवयवों और सामर्थ्य में कोई भेद न हों। कोई स्त्री, कोई पुरुष और किसी का नपुंसक होना दुनियां के किसी क्षेत्र में बन्द नहीं होगा। इन प्राकृतिक विषमताओं को न कोई शासन बदल सकता है और न कोई समाज। यह सब विविधतायें तो साम्यवाद की चरम सीमा पर पहुँचे हुए देशों में भी बनी रहेंगी। इन सब विषमताओं का कारण प्रत्येक आत्मा के साथ रहने वाला कोई विजातीय पदार्थ है और वह पदार्थ कर्म है।

कर्म आत्मा के साथ कब से हैं और कैसे उत्पन्न होते हैं ?

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। जब से आत्मा है, तब से ही उसके साथ कर्म लगे हुए हैं। प्रत्येक समय पुराने कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग होते रहते हैं और आत्मा के रागद्वेषादि भावों के द्वारा नये कर्म बंधते रहते हैं। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक आत्मा की मुक्ति नहीं होती जैसे अग्नि में बीज जल जाने पर बीज वृक्ष की परम्परा समाप्त हो जाती है वैसे ही रागद्वेषादि विकृत भावों के नष्ट हो जाने पर कर्मों की परम्परा आगे नहीं चलती। कर्म अनादि होने पर भी सान्त है।

यह व्याप्ति नहीं है कि जो अनादि हो उसे अनन्त भी होना चाहिये–नहीं तो बीज और वृक्ष की परम्परा कभी समाप्त नहीं होगी।

यह पहले कहा है कि प्रतिक्षण आत्मा में नयेर कर्म आते रहते हैं। कर्मबद्ध आत्मा अपने मन, वचन और काय की क्रिया से ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप और औदारिकादि ४ शरीररूप होकर योग्य पुद्गल स्कन्धों का ग्रहण करता रहता है। आत्मा में कषाय हो तो यह पुद्गलस्कन्ध कर्मबद्ध-आत्मा के चिपट जाते हैं—ठहरे रहते हैं। कषाय(रागद्वेष) की तीव्रता और मन्दता के अनुसार आत्मा के साथ ठहरने की कालमर्यादा कर्मों का स्थिति बन्ध कहलाता है। कषाय के अनुसार ही वे फल देते हैं यही अनुभव बन्ध या अनुभाग बन्ध कहलाता है। योग कर्मों को लाते हैं, आत्मा के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ते हैं। कर्मों में नाना स्वभावों को पैदा करना भी योग का ही काम है। कर्मस्कन्धों में जो परमाणुओं की संख्या होती है, उसका कम ज्यादा होना भी योग हेतुक है। ये दोनों क्रियायें क्रमशः प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध कहलाती हैं।

कर्मों के भेद और उनके कारण

कर्म के मुख्य आठ भेद हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, और अन्तराय। जो कर्म ज्ञान को प्रगट न होने दे वह ज्ञानावरणीय, जो इन्द्रियों को पदार्थों से प्रभावान्वित नहीं होने दे वह दर्शनावरणीय, जो सुख दुःख का कारण उपस्थित करे अथवा जिससे सुख दुःख हो वह वेदनीय, जो आत्मरमण न होने दे वह मोहनीय, जो आत्मा को मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक के शरीर में रोक रक्खे वह आयु, जो शरीर की नाना अवस्थाओं आदि का कारण हो वह नाम, जिससे ऊँच नीच कहलावे वह गोत्र, और जो आत्मा की शक्ति आदि के प्रकट होने में विघ्न डाले वह अन्तराय कर्म है।

संसारी जीव के कौन कौन से कार्य किस किस कर्म के आस्रव के कारण हैं यह जैन शास्त्रों में विस्तार के साथ बतलाया गया है। उदाहरणार्थ–ज्ञान के प्रकार में बाधा देना, ज्ञान के साधनों को छिन्न-भिन्न करना, प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगाना, आवश्यक होने पर भी अपने ज्ञान को प्रगट न करना और दूसरों के ज्ञान को प्रकट न होने देना आदि अनेकों कार्य ज्ञानावरणीय कर्म के आस्रव के कारण हैं। इसी प्रकार अन्य कर्मों के आस्रव के कारणों को भी जानना चाहिये। जो कर्मास्रव से बचना चाहे वह उन कार्यों से विरक्त रहे जो किसी भी कर्म के आस्रव के कारण हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र के छट्ठे अध्याय में आस्रव के कारणों का जो विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है वह हृदयंगम करने योग्य है।

कर्म आत्मा के गुण नहीं हैं

कुछ दार्शनिक कर्मों को आत्मा का गुण मानते हैं। पर जैन मान्यता इसे स्वीकार नहीं करती। अगर पुण्य पाप रूप कर्म आत्मा के गुण हों तो वे कभी उसके बन्धन के कारण नहीं हो सकते। यदि आत्मा का गुण स्वय ही उसे बांधने लगे तो कभी उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। बन्धन मूल वस्तु से भिन्न होता है, बन्धन का विजातीय होना जरूरी है। यदि कर्मों को आत्मा का गुण माना जाय तो कर्म नाश होने पर आत्मा का नाश भी अवश्यं-भावी है; क्यों कि गुण और गुणी सर्वथा भिन्न भिन्न नहीं होते। बन्धन आत्मा की स्वतन्त्रता का अपहरण करता है; किन्तु अपना ही गुण अपनी ही स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकता। पुण्य और पाप नामक कर्मों को यदि आत्मा का गुण मान लिया जाय तो इनके कारण आत्मा पराधीन नहीं होगा; और यह तर्क एवं प्रतीति सिद्ध है कि ये दोनों आत्मा को परतन्त्र बनाये रखते हैं। इस लिए ये आत्मा के गुण नहीं किन्तु एक भिन्न द्रव्य हैं। ये भिन्न द्रव्य पुद्गल है। यह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला एवं जड़ है। जब राग-द्वेषादिक विकृतियों के द्वारा आत्मा के ज्ञानादि गुणों को घातने का सामर्थ्य जड़ पुद्गल में उत्पन्न हो जाता है तब यही कर्म कहलाने लगता है। यह सामर्थ्य दूर होते ही यही पुद्गल दूसरी पर्याय धारण कर लेता है।

कर्म आत्मा से कैसे अलग होते हैं

आत्मा और कर्मों का संयोग सम्बन्ध है। इसे ही जैन परिभाषा में एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध कहते हैं। संयोग तो अस्थायी होता है। आत्मा के साथ कर्म संयोग भी अस्थायी है। अतः इसका विघटन अवश्यंभावी है। खान से निकले हुए स्वर्ण पाषाण में स्वर्ण के अतिरिक्त विजातीय वस्तु भी है। वह ही उसकी अशुद्धता का कारण है। जब तक वह अशुद्धता दूर नहीं होती उसे सुवर्णत्व प्राप्त नहीं होता। जितने अशों में वह विजातीय संयोग रहता है उतने अंशों में सोना अशुद्ध रहता है। यही हाल आत्मा का है। कर्मों की अशुद्धता को दूर करने के लिये आत्मा को बलवान प्रयत्न करने पड़ते हैं। इन्हीं प्रयत्नों का नाम तप है। तप का प्रारम्भ भीतर से होता है। बाह्य तपों को जैन शास्त्रों में कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। अभ्यन्तर तप की वृद्धि के लिये जो बाह्य तप अनिवार्य हैं वे स्वतः ही हो जाते हैं। तपों का जो अन्तिम भेद ध्यान है वही कर्मनाश का कारण है। श्रुतज्ञान को

निश्चल पर्यायें ही ध्यान हैं। यह ध्यान उन्हीं को प्राप्त होता है जिनका आत्मोपयोग शुद्ध है। शुद्धोपयोग ही मुक्ति का साक्षात् कारण अथवा मुक्ति का स्वरूप है। आत्मा की पाप और पुण्यरूप प्रवृत्तियां उसे संसार की ओर खींचती हैं। जब इन प्रवृत्तियों से वह उदासीन हो जाता है तब नये कर्मों का आना रुक जाता है। इसे ही जैन शास्त्रों की परिभाषा में 'संवर" कहा गया है। संवर हो जाने पर जो पूर्व सचित कर्म हैं वे अपना रस देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं और नये कर्म आते नहीं, तब आत्मा की मुक्ति हो जाती है। एक बार कर्म बन्धन से आत्मा अलग होकर फिर कभी कर्मों से संपृक्त नहीं होता। मुक्ति का प्रारम्भ है, पर अन्त नहीं है। वह अनन्त है। मुक्ति ही आत्मा का चरम पुरुपार्थ है। इसकी प्राप्ति अभेदरत्नत्रय से होती है। जैन शास्त्रों में कर्मों के नाश होने का अर्थ है आत्मा से उनका सदा के लिए अलग हो जाना। यह तर्क सिद्ध है कि किसी पदार्थ का कभी नाश नहीं होता। उसका केवल रूपान्तर होता है। पदार्थ पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय ग्रहण कर लेता है। कर्म पुद्गल कर्मत्व पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय धारण कर लेते हैं। उनके विनाश का यही अर्थ है:

"सतो नात्यन्तसंक्षय:" (आप्त परीक्षा)

"नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सत:" गीता)

नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तम: पुद्गलभावतोऽस्ति" (स्वयंभ स्तोत्र)

आदि जैना जैन महान दार्शनिक सत् के विनाश का और असत् के उत्पाद का स्पष्ट विरोध करते हैं। जैसे साबुन आदि फेनिल पदार्थों से धोने पर कपड़े का मैल नष्ट हो जाता है अर्थात दूर हो जाता है, वैसे ही आत्मा से कर्म दूर हो जाते हैं। यही कर्मनाश कर्ममुक्ति अथवा कर्म भेदन का अर्थ है। जैसे आग में तपाने की विशिष्ट प्रक्रिया से सोने का विजातीय पदार्थ उससे पृथक हो जाता है वैसे ही तपस्या से कर्म दूर हो जाता है।

जीवन के लिए धर्म की आवश्यकता

धर्म के बिना मानव जीवन की कोई कीमत नहीं है। किन्तु अवश्य ही उस धर्म का अर्थ है नैतिकता और सदाचार। प्राण रहित शरीर की तरह उस जीवन का मूल्य नहीं है जिसमें धर्म अथवा नैतिकता नहीं रहती। अगर जीवन में धर्म का प्रकाश न हो तो वह अन्धा है और वह अपने लिये भी भार स्वरूप है एवं दूसरों के लिये भी। मनुष्य में से पशुता के निष्कासन का श्रेय धर्म को ही है। धर्म ही मनुष्य में सामाजिकता लाता है, किन्तु

थोथे क्रियाकांड के नाम से जिस धर्म को बहुत से लोग लिये बैठे हैं उसे धर्म मानना एक आत्मवंचना है और वह मनुष्य को कभी वास्तविकता की ओर नहीं ले जा सकता।

धर्म मनुष्य की दैवी वृत्ति है। यह वृत्ति ही उसमें दया, दान, सन्तोष, करुणा, अनुकम्पा, क्षमा, अहिंसा आदि अनेक गुणों को उत्पन्न करती है। जितने जितने अंशों में जहां जहां धर्म की प्रतिष्ठा है वहां वहां शांति सुख और वैभव का विलास देखने को मिलेगा।

धर्म की प्रशंसा में एक प्राचीन जैन महर्षि आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि—

धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावद्।
हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन्॥
दृष्टा परस्पर हतिर्जनकात्मजानाम्।
रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव॥

अर्थात्—जब तक मनुष्य के मन में धर्म रहता है तब तक वह मारने वाले को भी नहीं मारता। किन्तु देखो! जब धर्म उसके मन से निकल कर चला जाता है तब औरों की कौन कहे, पिता पुत्र को मार डालता है और पुत्र पिता को, अतः यह निश्चित है कि इस जगत की रक्षा का कारण धर्म ही है। इससे यह कहा जा सकता है कि सफल और सुव्यवस्थित जीवन बिताने के लिये धर्म अनिवार्य है।

धर्म और एकान्त बाह्याचार

यद्यपि धर्म जीवन के लिये अनिवार्य है, किन्तु उसका रूप एकांत बाह्य चार कभी नहीं है। 'आचारः प्रथमो धर्मः' अर्थात आचार ही सर्व प्रथम धर्म है। शास्त्र के इस वाक्य को लोगों ने इस तरह पकड़ा कि यथार्थ आचार इनकी पकड़ में न आया। आचार तो मनुष्य को उठाने का प्रयत्न है यह मनुष्य में न हो तो उसके जीवित रहने पर भी उसकी मानवता मर जाती है। मनुष्य वह नहीं है जो हमें दीख रहा है, वह तो केवल उसका बाह्यरूप है। मनुष्यत्व को ढूंढना हो तो हमें उसके सद्प्रयत्नों में उसे ढूंढना होगा। पर उसके वे प्रयत्न केवल बाह्य न होंगे, क्योंकि उनमें धोखा होना सम्भव है। आचार में मनुष्य के उन क्षेमकर प्रयत्नों की गणना है जो अन्तर्मुख हों। जगत में अधिकांश मनुष्य मानवता से बहिर्भूत हैं, चाहे वे कितने ही बड़े आचारी साधु, नेता, अथवा शास्त्र प्रणेता ही क्यों न हों। यदि बहुत समीप जाकर उनका अध्ययन करें तो हमें निराशा के अतिरिक्त और

कुछ नहीं मिलेगा। यह मनुष्य का बुद्धिभ्रम है कि वह एकांत वाह्याचार को धर्म मानता है। पर अब यह इसका फैला हुआ अर्थ बन गया है और बहुत से मनुष्य इससे चिपटे पड़े हैं। एकान्त वाह्याचार में न वास्तविक श्रद्धा रहती है और न सच्चा ज्ञान। जो श्रद्धा और ज्ञान इस वाह्याचार में है उसे अन्ध विश्वास और अज्ञान कहते हैं। यह इतना निष्फल और असह्य हो जाता है कि इसे न मनुष्य का हृदय छूता है और न मस्तिष्क। तब फिर वह उसे क्यों करता है? इसका उत्तर है कि वह परम्परा का पुजारी है, गतानुगतिक है, रूढियों के विरोध में उठ कर वह क्यों नई आफत मोल ले? मलघट की तरह वह पापों से भरा पूरा रहने पर भी अपने वाह्याचार के बल पर दूसरों से अपने को ऊंचा समझता है, उनसे घृणा करता है। और इस तरह अभिमान के सिर पर बैठ कर वह अपने को भिन्न वर्गीय समझने की धृष्टता करता है। आचार तत्त्व में खाने पीने, नहाने धोने उठने बैठने आदि क्रियाओं का समावेश करना हो तो पहले इनका एकान्त आग्रह छोड़ना होगा। निराग्रह पूर्वक कायिक शुद्धि के लिये जहां तक इनकी आवश्यकता का सम्बन्ध है इन्हें स्वीकार किया जा सकता है। पर इन्हें आचार जैसा महामहिमाशाली नाम देना तो मुर्दे को जीवित कहने के बराबर है। इन वाह्यक्रियाओं से आचार में भी कभी सजीवता नहीं आती इसी लिये महावीर और बुद्ध ने स्थान स्थान पर इनकी निःसारता बतलाई है और कहा है कि हृदय को शुद्ध रखो, अहङ्कार को छोडो, समभाव को धारण करो, सहानुभूति, क्षमा, शान्ति, शम, दम आदि को जीवन में उतारो। यही आचार तत्व के मूलअवयव हैं।

सदाचार और धर्म में कोई भेद नहीं है। सदाचार से जीवन भौतिकता से हटकर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है। सदाचार स्वयं ही आध्यात्मिकता है। इससे जीवन में स्फूर्ति और चैतन्य आता है। कोई भी धर्म (सम्प्रदाय) तभी विजयी हो सकता है जब उसमें आचारवान मनुष्यों का बाहुल्य हो। भूतकाल में जो महात्मा हो गये हैं वे अपनी आचार निष्ठा के बल पर ही मानव को ठीक रास्ते पर लाने में सफल हो सके थे। हमें इसका ताजा उदाहरण देखना हो तो महात्मा गांधी के जीवन में देख सकते हैं।

आचार की तेजस्विता बातें बनाने से नहीं उन्हें जीवन में उतारने से आती है और यह तेजस्विता जब उत्पन्न हो जाती है तब तो ऐसे महात्माओं के पैरों में गिरकर सम्राट भी अपने को धन्य मानता है, किन्तु ऐसी तेजस्विता वाह्याचारियों के जीवन में कदापि नहीं आती, आचार अथवा

आचरण के नाम से हमारे देश में आज भी जो कुछ प्रचलित है उसने मानव के उत्थान में बहुत बड़ी बाधा पहुंचाई है।

जीवन कला और धर्म

कला शब्द से मनुष्य बहुत परिचित है। नृत्यकला, गानकला, वाद्यकला, आदि शब्दों का प्रयोग हम बहुत बार करते हैं। पुरुष की बहत्तर और स्त्री की चौसठ कलाओं के बारे में भी हमने सुना है। किन्तु जीवनकला, मृत्युकला आदि शब्दों से हम परिचित नहीं हैं। यथार्थ यह है कि कोई सब कलाओं को जानकर भी यदि जीवनकला को न जाने, यानी अपने जीवन को कलामय न बनावे तो उसका सारा कलाज्ञान व्यर्थ है। वह उसके लिये भार स्वरूप है; क्योंकि किसी का जीवन कलामय तभी कहला सकता है जब उसके जीवन में धर्म उतरे।

हम कैसे जीवें, जीवन की उचित विधि क्या है, किस क्रम से जीने से हमारे जीवन की उपयोगिता है, आदि अनेक प्रश्न यदि हममें विवेक हो तो हमारे मन में जरूर उठेंगे। इसके उत्तर में ही जीवन कला की परिभाषा है।

धर्म बतलाता है कि हमें इस तरह जीने की आदत डालना चाहिए जिससे हमारे अन्तः करण में अशान्ति, क्षोभ, असन्तोष जैसी कोई चीज पैदा न हो। क्योंकि यह सब चीजें जीवन रस को नष्ट करने वाली हैं। जीवन रस वह वस्तु है जो आत्मा की खुराक बनकर उसको पोषण देता है। जगत में ऐसा क्यों होता है कि जीवन के सारे बाह्य साधनों को पाकर भी मनुष्य अपने आपको दुःखी कहता सुना जाता है? इसका कारण ढूंढना होगा। महाशासक को भी शान्ति नहीं है। कुबेरोपम विभूति का स्वामी भी सुख के लिये तडप रहा है। सब कुछ होते हुए भी उनके पास क्या नहीं है जिससे उन्हें बेचैनी हो रही है, इस सारे विपर्यास का एक यही उत्तर है कि रंकों की तरह उन्हें भी अभाव सता रहे हैं। उनके पक्ष में इतना अधिक और है कि उनके अभाव मोटे, विशाल और बृहत्तम हैं। इससे उनके दुःख का परिमाण भी बढ जाता है। जो अपनी व्यापक सन्तोष वृत्ति द्वारा सारे अभावों को निःशेष करने की कला को नहीं जानता वह सुखी कैसे हो सकता है? जो जीने की कला पा लेता है वह राह का भिखारी होते हुये भी सुखी है। नहीं तो पृथ्वी का चक्रवर्ती, स्वर्ग का इन्द्र या और कोई भी हो, अशांत, असन्तुष्ट, क्षुब्ध एवं दुःखी ही रहेगा। इससे हमें इस परिणाम पर पहुँचना चाहिये कि कोई भी अपने को जीवन कला से ही सुखी

बना सकता है, बाह्य साधनों से नहीं और उसका अर्थ है जीवन में धर्म को उतारना।

कला अशिव को शिव और असुन्दर को सुन्दर बनाती है। अव्यवस्थित और विकीर्ण को व्यवस्थित और केन्द्रित करना ही कला का काम है। कला रसप्रवाहिनी होती है। जैसे हर एक गाना, हर एक बजाना और हर एक नाचना कला नहीं कहलाता वैसे प्रत्येक जीवन कलामय नहीं कहला सकता। गाना, बजाना और नाचना आदि को कलामय बनाने के लिये हमें इनमें रहने वाली अव्यवस्था, अक्रम एवं अनौचित्य को दूर करना पड़ता है। हमारे जिस प्रक्रम से इनमें रसोत्पादकता आये वही हम करते हैं। रसोत्पादकता की सफलता ही कला की सफलता है। जीवन के सम्बन्ध में भी यही बात है। यदि यह अव्यवस्थित, अनुचितोपयुक्त एवं रसहीन है तो उसमें कला का अभाव है। उसे कलामय बनाने के लिए उसकी यह बुराइयां दूर करनी होगी। हमें यह जानना चाहिये कि जीवन को रसहीन बनाने वाला असंयम है। असंयम दूर हो तो जीवन सुव्यवस्थित हो जाता है और उसके फलस्वरूप उसमें रसोत्पादकता आ जाती है।

यही तो जीवन की कलात्मकता है। जो विलासी हैं, विषयापेक्षी हैं और जगत की नानाविध एषणाओं के द्वारा सताये हुए हैं उनका जीवन कलामय नहीं है। अनित्य को नित्य और अपावन को पावन, दुख को सुख और अस्व को स्व मानने के भ्रम में पड़ना जीवन की कलात्मकता को नष्ट करना है। इसी का दूसरा नाम अधर्म है।

एक सन्त कवि कहता है—

कला बहत्तर पुरुष की तामें दो सरदार।
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार॥

इसमें कवि ने पुरुष की बहत्तर कलाओं का निचोड़ कह दिया है। इसका यही तात्पर्य है कि आत्मोद्धार (जीवन कला) बिना सब कलायें व्यर्थ हैं। चाहे कोई गृहवासी हो या वनवासी, कोई कैसी भी परिस्थिति में रहना क्यों न पसन्द करे; पर इस मूलभूत सत्य को न भूले कि जीवन की सार्थकता उसकी कलामयता में है। कलामय जीवन के लिये कोई वेश या विशेष प्रकार की स्थिति अपेक्षित नहीं है। वह तो जीवन शुद्धि है और उसे कोई भी पा सकता है, केवल अहिंसा सत्य और समभाव को अपने जीवन में उतारने की जरूरत है। पर इस संकेत को कभी नहीं भूलना चाहिये कि जीवन को कलामय बनाने के लिये एकान्त निवृत्ति की जरूरत नहीं है, क्यों कि कला तो प्रवृत्त्यात्मक है।

अहिंसा

धर्म का अहिंसा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, अतः यहां अहिंसा के सम्बन्ध में भी दो शब्द कहना आवश्यक हो गया है। जैनाचार में अहिंसा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। जैन शास्त्रों में जप, तप, ध्यान, अनुष्ठान, भक्ति, पूजा, प्रार्थना आदि कोई भी कर्तव्य ऐसा नहीं बतलाया गया जिसमें अहिंसा का समादर न हुआ हो। जैन दर्शन के अनुसार धर्म का आत्मभूत लक्षण अहिंसा ही है। सच तो यह है कि कोई ऐसा मानव धर्म नहीं हो सकता जिसमें अहिंसा व्याप्त न हो। अहिंसा के बिना धर्म की कल्पना ही व्यर्थ है। वह तो धर्म का सर्वस्व है। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने उसे ब्रह्म कहा है—"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।" चाहे श्रमण हो चाहे श्रावक प्रत्येक साधक का कर्तव्य है कि वह अहिंसा की मर्यादा में चले। श्रमण तो पूर्ण अहिंसक होता है। हिंसा की अल्पमात्रा भी उसके लिए क्षम्य नहीं है। न उसके भावों में हिंसा आनी चाहिए और न उनके वचनों अथवा कार्यों में। उसकी सारी प्रवृत्तियां अहिंसक होती हैं। श्रमण होने के कारण जो उत्तरदायित्व उस पर है वह अहिंसा से ही अनुप्राणित होता है। हिंसा तो श्रमणत्व की विपरीत दिशा है।

किन्तु जगत की बहुत बड़ी बड़ी जिम्मेवारियों को झेलता हुआ श्रावक भी अहिंसक रह सकता है। उसके जीवन में अहिंसा इतनी व्यावहारिक बन सकती है कि उसका कोई भी काम दुनियां में रुका नहीं रह सकता। सच तो यह है कि हिंसा और अहिंसा का ठीक स्वरूप समझ लेने के बाद न अहिंसा अव्यवहार्य जान पड़ेगी और न उसका अतिवाद ही होगा। श्रमण और श्रावक की मर्यादायें भिन्न भिन्न हैं। श्रावक अहिंसा का पालन अपनी मर्यादा में रह कर ही करता है। मर्यादा हीन अहिंसा उसके लिए अहिंसा का अतिवाद है। अनिवार्य आवश्यकता आ पड़ने पर वह शक्ति का प्रयोग कर सकता है; पर वह उसका आपद् धर्म है। वह देवता, मन्त्र, धर्म, अतिथि एवं भोजन आदि किसी भी कार्य के लिए जीव हिंसा को प्रोत्साहन नहीं देता और न स्वयं जीव हिंसा करता है।

जैन शास्त्रों के अनुसार श्रावक खेती कर सकता है फिर भी वह हिंसक नहीं कहा जायगा। क्यों कि उसका अभिप्राय खेती करना है, जीवों की हिंसा करना नहीं। इसलिए कहा गया है कि "घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोघ्नन्नपिधीवरः।" अर्थात् खेती में अनिवार्य हिंसा होने पर भी किसान की अपेक्षा जलाशय के तट पर मछली मारने के लिए बैठा

हुआ वह धीवर जिसके जाल में एक भी मछली नहीं आई है अधिक पापी है। कारण यह कि हिंसा और अहिंसा की व्याख्या भावों के साथ बंधी हुई है। क्रोध, काम, ईर्ष्या, मद, लोभ, दंभ आदि हिंसामय भावों से प्रेरित होकर जब मनुष्य किसी जीव की हिंसा करता है तभी वह हिंसक कहलाता है। जो श्रावक सदा युद्धों से बचता रहता है, संकल्पपूर्वक कभी किसी को नहीं मारता; जो अपने उद्योग और आरम्भों में जीवहिंसा के भय से यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है; किन्तु आततायी एवं आक्रमणकारियों को ठीक राह पर लाने के लिए जो बाध्य होकर शस्त्र भी उठा सकता है वह हिंसक कैसे कहा जा सकता है ?

जैन धर्म की अहिंसा पर कुछ लोग यह आक्षेप करते हैं कि उसने देश को कायर बनाया; किन्तु यह चीज बिल्कुल गलत है। इतिहास पर नजर डालें तो हमें एक भी ऐसा उदाहरण उपलब्ध नहीं होगा कि अहिंसा के कारण देश कायर हुआ हो और उसी से वह पराधीन भी बना हो। देश की पराधीनता का कारण अहिंसा नहीं; किन्तु आपसी फूट, राष्ट्रीयता का न होना, देश में भावात्मक एकता का अभाव, अनेक प्रकार के अन्ध-विश्वास, भयंकर राजनीतिक भूलें आदि बीसों कारण हैं। अहिंसा का खयाल कर किसी ने आक्रमणकारियों का सामना न किया हो ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है।

अहिंसा मनुष्य में सच्ची राष्ट्रीयता लाती है उसी से उसमें देश प्रेम उत्पन्न होता है। देश के लिए अपार कष्ट सहन करने की शक्ति अहिंसा के द्वारा ही उत्पन्न होती है। अहिंसा एक ऐसी शक्ति है जिससे जीवन की अनेक समस्याएं अनायास ही सुलझ सकती हैं। आज हिंसा के कारण संसार में भय और आशंका का वातावरण बना हुआ है। बड़े राष्ट्र एक दूसरे को पराजित करने के लिए प्रक्षेपणास्त्रों के संचय में लगे हुए हैं एवं इसी के भयंकर निर्माण में ही अपना कल्याण देखते हैं। नागासाकी और हिरोशिमा के विनाश के लिए डाले गये बमों से दो हज़ार गुणे अधिक शक्तिशाली प्रक्षेपणास्त्र आज बन चुके हैं। इस प्रकार के अस्त्रों के परीक्षणों से वायुमण्डल के विषाक्त हो जाने से सम्पूर्ण जगत के स्वास्थ्य के लिए खतरा पैदा हो गया है। जिस मानव पर जगत की रक्षा करने का उत्तरदायित्व है वह आज सृष्टि के विनाश के प्रयत्नों में लगा हुआ है इससे अधिक दुख की बात और क्या होगी। इंगलैण्ड के नब्बे वर्ष के महान दार्शनिक

बर्टेण्ड रसल जैसे विचार शील लोगों का कहना है कि इस महानाश से बचने के लिए सभी लोग मिलकर प्रयत्न करें एवं अणुपरीक्षणों को बन्द करने के लिए जो भी कदम उठाया जा सके अवश्य उठाया जाय। इसमें जरा भी शक नहीं है कि इस विभीषिकामय समय में भगवती अहिंसा ही मानव का उद्धार कर सकती है अतः उसे प्रभावक बनाने के लिए सभी का प्रयत्न होना चाहिए।

यहां आत्मा (जीव) कर्म सिद्धांत, धर्म और अहिंसा का संक्षिप्त विवेचन इसलिए किया गया है कि इसके सम्बन्ध में पाठकों को जैन मान्यताओं का कुछ परिचय मिल जाये। इस विवेचन के अध्ययन से पाठकों को यदि विशेष जिज्ञासा उत्पन्न हो तो जैन वाङ्मय के ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए।

कृतज्ञता प्रकाशन

इस संकलन को साकार रूप ग्रहण करने में गंगापुर, (राजस्थान) राजकीय कालेज के प्राध्यापक डा० कमलचन्द सौगाणी एम. ए. पी. एच डी. ने बहुत मदद की है; इसलिए उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

जैन संस्कृत कालेज, जयपुर,
भाद्रपद शु० ५ वि. सं. २०१९

चैनसुखदास

अभिमत

प्रस्तुत संग्रह को आचार्यजी ने अध्यायों में विभक्त किया है। एक एक विषय से संबंधित पद्य लेकर वे एक एक अध्याय के अन्तर्गत रख दिए गये हैं। संग्रह में उन्नीस अध्याय हैं, अन्तिम अध्याय में कई प्रकार के विषयों से संबंधित पद्य हैं। विभिन्न ग्रन्थों से पद्य चुन कर इस प्रकार रखे गये हैं, और यह प्रतीत होता है जैसे वास्तव में वे एक ही ग्रन्थ के पद्य हों। विषय का विवेचन क्रमबद्धरूप में प्रस्तुत हो गया है। यथा जीव और आत्मा, कर्म, गुणस्थान जैसे अध्यायों में संग्रहीत पद्यों को पढ़ कर गूढ़ दार्शनिक तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। जीव और आत्मा के सम्बन्ध में जैन दर्शन का अपना मौलिक दृष्टिकोण है और उसका स्पष्ट विवेचन अध्याय के संकलित पद्यों में मिल जाता है।

जैन सिद्धांत के अनुसार जीव स्वदेह परिमाण वाला है। (अध्याय २) जीवों के अनेक भेद हैं और उनको स्पष्ट करते हुए कई पद्य इस अध्याय में द्रष्टव्य हैं। जीव के तीन प्रकार हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। परमात्मा के दो भेद हैं-अरहंत और सिद्ध। शरीर एवं इन्द्रियों को जीव मानने वाला बहिरात्मा है और कर्मकलंक विमुक्त आत्मा परमात्मा है। इसी प्रकार कर्म की गूढ़ गति को इस अध्याय में सरल ढंग से समझाया गयाहै।

संक्षेप में गूढ़ तत्त्वों को समझाना भारतीय मनीषी की अद्भुत विशेषता रही है और इस संकलन के पद्यों में उसकी झलक हमें मिलती है।

अर्हत् प्रवचन के उपदेश सभी के लिये समान रूप से आकर्षक हैं। सच्चा नागरिक बनना हर एक का प्रधान लक्ष्य है, समाज के लिए वह वांछनीय आदर्श है। श्रमण और श्रावक, साधु और गृहस्थ दोनों को ही यह महान् लक्ष्य प्राप्त करना है—निवृत्ति और प्रवृत्ति ये एक ही मार्ग के दो पहलू हैं। वे एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। दोनों के ही कर्तव्यों

का आदर्श इन 'वचनों' में मिल सकता है। दोनों वर्गों के लिए पालनीय उपदेश अनेक हैं—यथा 'चुगली, हंसी, कर्कश, परनिंद्य और आत्म प्रशंसा रूप वचन को छोड़ कर स्वपर हितकारी वचनों को बोलते हुये मुनि के भाषा समिति होती है' (१४:५७)। मुनि और गृहस्थ सभी के लिए यह मान्य आदर्श है।

जैन साहित्य बहुत विशाल है, वह बहुत प्राचीन भी है। साधना और साहित्य की यह धारा अबाध गति से बहती चली आ रही है। आज भी यह प्रवाहित हो रही है। साहित्य में लोकमंगल की भावना का जैसा सिश्रण जैन साहित्य में मिलता है वैसा और उतनी मात्रा में अन्य संप्रदाय के साहित्यों में नहीं मिलता। दर्शन या साहित्य सभी प्रकार की कृतियों में उपदेश का तत्त्व जैन रचनाओं में अवश्य मिलता है और यह उचित भी है। विपश्चित पुरुष के मन को भी विषय चंचल कर देते हैं। तब सामान्य जनों का क्या कहना। जैन मनीषियों ने सामान्य जन या साधारण गृहस्थ को भी कभी नहीं छोड़ा। श्रावक के उद्धार की बात सदा उनके सामने प्रमुख रही है, किन्तु श्रमण और साधु के लिए कर्तव्यों का और भी गहन विचार किया गया है।

कुछ विद्वान कहते हैं कि इस उपदेश की प्रधानता के कारण जैन साहित्य में काव्य रस नहीं रह गया हैं, किन्तु यह दृष्टिकोण का अन्तर है। साहित्य का प्रधान उद्देश्य लोकमंगल है और उस दृष्टि से श्रेष्ठ विचारों की प्रेरणा देने वाला सब साहित्य श्रेष्ठ साहित्य है।

अर्हत् प्रवचन में श्रद्धेय पं० चैनसुखदासजी ने विशाल साहित्य से कुछ रत्न चुनकर एकत्रित किए हैं। इन रत्नों से भारत की श्रेष्ठ चिंतन धारा की एक झलक पाठक को मिलेगी। श्रेष्ठतम मूल्यों की ओर भारतीय मनीषियों का ध्यान सदा रहा है और वे मूल्य बहुत कुछ सब काल के लिए सत्य हैं—जब तक कि मनुष्य का साथ बुद्धि नहीं छोड़ती। जो 'वचन' संग्रहीत किये गये हैं वे समान रूप से सबके लिए उपयोगी हैं—यद्यपि वे जैन सम्प्रदाय में मान्य कृतियों से लिए गए है तथापि उनका स्वरूप और स्वर सार्वभौमिक है। उदाहरण के लिए कुछ वाणियों को देख सकते हैं—

पंच नमस्कार को ही लें। पंच नमस्कार जैनों के अनुसार सर्व प्रथम किया जाना चाहिए। ये पांच वंदनीय हैं—

अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और सर्व साधु, ये सभी वंदनीय हैं। उनमें अर्हत् मुख्य है, अतः सर्व प्रथम अर्हत् की वंदना की गई है। अर्हत् का लक्षण यह है।

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोर्हन् परमेश्वरः ॥

जो सर्वज्ञ है, रागद्वेष जीत चुका है, यथास्थित को यथास्थित रूप से जानता है, सभी द्वारा पूज्य है वह श्रेष्ठ देव अर्हत् है। प्राकृत पद्यों के सरल भाषानुवाद ने इस कृति को सर्वजन सुगम बना दिया है। धर्म और दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन के इच्छुक विद्वान भी इससे लाभ उठावेंगे। इस पुस्तक से कुछ अंश हाईस्कूलों के लिए पाठ्यक्रम में रखे जाने चाहिए और जीवन में सार का अधिक प्रचार होना चाहिये, यह समझने में यह कृति सहायक सिद्ध होगी। पण्डितजी की इस उत्तम संग्रह के लिए मैं प्रशंसा करता हूं। 'गीता' 'धम्मपद' के समान इसमें नित्यपाठ की सामग्री संकलित है।

रामसिंह तोमर
अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, विश्व भारती
शांति निकेतन

अध्याय १

मंगल

[इस मंगल अध्याय में अपराजित मंत्र, उसका माहात्म्य और मंगल पाठ है। इसमें अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पांच परमेष्ठियों का स्वरूप बतलाया गया है। अरिहंत चार घातिकर्म-रहित जीवन्मुक्त आत्मा को, सिद्ध अष्टकर्म रहित संपूर्ण मुक्तात्मा को, आचार्य साधु संस्था के शासक तपस्वी को, उपाध्याय साधुओं के अध्यापक महा विद्वान मुनि को और साधु आत्मसाधना में निरत संयमी को कहते हैं]

अपराजित मंत्र और उसका महत्त्व

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमोआइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥१॥

अरिहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार हो।

[इस मंत्र के अंतिम चरण में जो 'लोए' और 'सव्व' पद हैं वह व्याकरण के नियमानुसार अन्त्य दीपक होने के कारण प्रत्येक वाक्य के साथ लगाना चाहिये जैसे लोक में जितने अरिहन्त हैं उन सबको मेरा नमस्कार हो। ऐसा ही अर्थ आगे भी करना चाहिये।]

एसो पंच णमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं ॥२॥

यह पंच नमस्कार मंत्र सारे पापों का नाश करने वाला और सब मंगलों में पहला मंगल है।

मंगल पाठ

चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धामंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ॥३॥

चार मंगल हैं :—अरिहंत मंगल हैं, सिद्ध मंगल हैं, साधु मंगल हैं, और केवलि (तीर्थंकर) प्रणीत धर्म मंगल है ।

चार लोक में उत्तम हैं :—अरिहंत उत्तम हैं, सिद्ध उत्तम हैं, साधु उत्तम हैं, और केवलि प्रणीत (तीर्थंकर कथित) धर्म उत्तम है ।

मैं चार के शरण जाता हूँ :—अरिहन्तों के शरण जाता हूँ । सिद्धों के शरण जाता हूँ । साधुओं के शरण जाता हूँ । केवलि-प्रणीत धर्म के शरण जाता हूँ ।

अरिहंतों का स्वरूप

णट्ठ चदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥१॥
इय घाइकम्ममुक्को अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो ।
तिहुवण भवणपईवो देउ मम उत्तमं बोहं ॥२॥

जिसके चार घातिकर्म—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय नामक (आत्म गुणों को घातने वाले)-महाविकार-नष्ट होगये हैं और इसके फलस्वरूप जिसके अनन्त दर्शन, अनन्तसुख, अनन्तज्ञान और अनन्तवीर्य (शक्ति) ये चार अनन्तचतुष्टय उत्पन्न होगये हैं तथा जो निर्विकार शरीर में स्थित हैं वह शुद्धात्मा अरिहन्त कहलाते हैं वे मुमुक्षुओं के ध्यान करने योग्य हैं ।

इस प्रकार यह चार घातिकर्मों से मुक्त आत्मा सशरीर होने पर भी जन्म, जरा आदि अठारह दोषों से रहित होता है । इसे ही दूसरे शब्दों में जीवन्मुक्त अथवा सदेह मुक्त आत्मा कहते हैं । यह तीन भवन के प्रकाश करने के लिये प्रदीप स्वरूप भगवान अरिहन्त मुझे उत्तम बोध दें ।

(१) द्रव्य० ५०   (२) भाव पा० १५०

सिद्धों का स्वरूप

णिव्वावइत्तु संसारमहग्गिं परमणिव्वुदिजलेण ।
णिव्वादिसभावत्थो गदजाइजरामरणरोगो ॥३॥
जह कंचणमग्गिमयं मुच्चइ किट्टेण कलियाए च ।
तह कायबंधमुक्का अकाइया झाणजोएण ॥४॥

परम शांतिरूप जल से संसाररूप अग्नि को बुझाकर जो निर्वाणरूप अपने स्वभाव में स्थित होगये हैं। जिनके जन्म जरा एवं मरण रूप रोग नहीं रहे हैं वे शरीर रहित मुक्तात्मा सिद्ध कहलाते हैं। जैसे आग में तपाया हुआ सोना किट्टिका (बहिरंगमल) और कालिमा (अंतरंगमल) से छूट जाता है उसी प्रकार ध्यान के द्वारा शरीर तथा द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणीयादि अष्ट कर्म रूप बहिरंगमल) एवं भावकर्म (रागद्वेषादि भाव रूप अंतरंगमल) रहित होकर यह जीव, सिद्धात्मा बन जाता है। काय के बंधन से मुक्त हुए ये जीव अकायिक कहलाते हैं।

आचार्यों का स्वरूप

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा ।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥५॥
दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणीज्झेओ ॥६॥

जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार नामक पांच आचरणों से परिपूर्ण हैं, जो पंचेन्द्रिय रूपी हाथियों के अभिमान को दलित करने वाले हैं, जो विकार के कारण उपस्थित होने पर भी विकृत नहीं होते और जो गुणों से गम्भीर हैं ऐसे तपस्वी आचार्य होते हैं। जो दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र और तपरूप आचरण में अपने आत्मा एवं दूसरों को लगाते हैं वह संघ के शासक मुनि आचार्य कहलाते हैं। वे ध्यान करने के योग्य हैं।

[ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, तप और शक्ति का यथार्थ उपयोग करना ही, क्रमशः ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार कहलाता है]

---

(३) भग० आ० २१४४ (४) पंच सं० १-८७ (५) नियम० ७३ (६) द्रव्य० ५२

उपाध्यायों का स्वरूप

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।
णिक्कंखभावसहिया उज्झाया एरिसा होंति ॥७॥
जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो ।
सो उज्झायो अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥८॥

जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय से संयुक्त हैं। जो जिनेन्द्र के द्वारा प्रतिपादित पदार्थों के उपदेश देने में समर्थ हैं और जो किसी प्रकार की सांसारिक आकांक्षा से रहित हैं; और सदा धर्मोपदेश देने में निरत हैं वह यतियों में श्रेष्ठ आत्मा उपाध्याय हैं। उन्हें नमस्कार है।

साधुओं का स्वरूप

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥९॥
वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणा सया रत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ॥१०॥

जो दर्शन एवं ज्ञान से समग्र (पूर्ण) मोक्ष के मार्ग स्वरूप एवं नित्य शुद्ध चारित्र की साधना करते हैं, जो वाह्य व्यापारों से मुक्त हैं, जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप चार आराधनाओं में सदा लीन रहते हैं, जो परिग्रह रहित एवं निर्मोही हैं, वे साधु कहलाते हैं। उन्हें प्रणाम है।

आत्मा ही मेरा शरण है

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं ॥११॥

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी कहलाते हैं। ये सब आत्मा में ही रहते हैं; इसलिए आत्मा ही मेरा शरण है।

---

(७) नियम० ७४ (८) द्रव्य० ५३ (९) द्रव्य० ५४ (१०) नियम० ७५
(११) मोक्ष पा० १०४

अध्याय २

जीव अथवा आत्मा

[सारे प्रयोजनों का आधार आत्मा है। उसीके जान लेने पर सब कुछ जाना हुआ कहलाता है। इसी लिए उसका नाम महार्थ (महान पदार्थ) है। जैन दर्शन में आत्मा का सूक्ष्म एवं तलस्पर्शी विवेचन किया गया है। इस अध्याय में आत्मा के प्रतिपादन की मूल्यवान गाथाओं का संग्रह है]

जीवा पोग्गलकाया धम्मा धम्मा य काल आयासं ।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥१॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये तत्त्वार्थ कहे गये हैं। ये अनेक गुण और पर्यायों से संयुक्त हैं।

पुग्गलदव्वं मोत्तं मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि ।
चेदणभावो जीओ चेदणगुणवज्जिया सेसा ॥२॥

इनमें पुद्गल द्रव्य मूर्त्त (रूप, रस, गंध और स्पर्शवाला) है। शेप सब द्रव्य अमूर्त्त हैं। जीव चेतन भाव वाला और बाकी के सब द्रव्य चेतना गुण रहित हैं।

जीव का भिन्न अस्तित्व

जे आया से विन्नाया। जे विन्नाया से आया ।
जेण वियाणइ से आया। तं पडुच्च पडिसंखाए ॥३॥

जो आत्मा है वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है वह आत्मा है। जिससे जाना जाता है वह आत्मा है। जानने की सामर्थ्य के द्वारा ही आत्मा की प्रतीति सिद्ध होती है।

जदि ण य हवेदि जीओ तो को वेदेदि सुक्खदुक्खाणि ।
इंदियविसया सव्वे को वा जाणदि विसेसेण ॥४॥

अगर जीव न होता तो सुख दुःख का कौन अनुभव करता और सारे इन्द्रिय के विषयों को विशेष रूप से कौन जानता ?

---

(१) नियम० ९ (२) नियम० ३७ (३) आचारा० सू० ५-६० (४) कार्तिके० १८३

णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं ।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥५॥

जो नमस्कृतों के द्वारा नमस्कार किया जाता है, जो ध्याताओं के द्वारा निरन्तर ध्याया जाता है और जो स्तुतों के द्वारा स्तवन किया जाता है, उस देहस्थ (आत्मा) को समझो।

संकप्पमओ जीओ सुहदुक्खमयं हवेइ संकप्पो ।
तं चिय वेयदि जीओ देहे मिलिदो वि सव्वत्था ॥६॥

जीव संकल्पमय होता है, संकल्प सुख दुःखात्मक है। देह में मिला हुआ भी जीव ही सब जगह सुख दुःख का अनुभव करता है।

संबंधो एदेसिं णायव्वो खीरणीरणाएण ।
एकत्तो मिलियाणं णियणियसब्भावजुत्ताणं ॥७॥

अपनी २ पृथक सत्ता सहित किन्तु एक होकर रहने वाले आत्मा और शरीर का सम्बन्ध 'नीरक्षीर विवेक न्याय' से समझना चाहिए अर्थात जैसे जल और दूध भिन्न २ होते हैं फिर भी मिल जाने से उनकी भिन्नता का भान नहीं होता वैसे ही आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है।

उत्तमगुणाणधामं सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं ।
तच्चाण परमतच्चं जीवं जाणेहि णिच्छयदो ॥८॥

उत्तम गुणों के आश्रय स्थान; सारे द्रव्यों में उत्तम द्रव्य और तत्त्वों में परम तत्व जीव (आत्मा) को निश्चय (यथार्थ रूप) से जानो।

अंतरतच्चं जीवो बाहिरतच्चं हवंति सेसाणि ।
णाणविहीणं दव्वं हियाहियं णेय जाणादि ॥९॥

जीव अंतस्तत्व है और बाकी के सब द्रव्य बहिस्तत्व हैं। ज्ञान रहित द्रव्य-पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-हिताहित को नहीं जानते, क्योंकि उनमें ज्ञान नहीं है।

---

(५) मोक्ष पा० १०३ (६) कार्तिके० १८४ (७) तत्व० २३ (८) कार्तिके० २०४
(९) कार्तिके० २०५

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१०॥

मैं आत्मा को इस प्रकार मानता हूँ कि वह ज्ञान प्राण, (ज्ञान स्वरूप) दर्शनमय, अतीन्द्रिय, महाअर्थ (महान् वस्तु), ध्रुव (नित्य), अचल (अपने स्वरूप में निश्चल रहने वाला), पर द्रव्यों की सहायता से रहित-स्वाधीन और शुद्ध है।

जीवो णाणसहावो जह अग्गी उह्लवो सहावेण ।
अत्थंतरभूदेण हि णाणेण ण सो हवे णाणी ॥११॥

जीव ज्ञान का आधार नहीं किन्तु ज्ञान स्वभाव वाला है। जैसे कि अग्नि उष्ण स्वभावात्मक है। अपने से सर्वथा भिन्न ज्ञान से आत्मा कभी ज्ञानी नहीं हो सकता।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥१२॥

जीव रस रहित, रूप रहित, गंध रहित, स्पर्श रहित, शब्द रहित, पुद्गल रूप लिङ्ग (हेतु) द्वारा नहीं ग्रहण करने योग्य, जिसके लिए किसी खास आकार का निर्देश नहीं किया जा सकता ऐसा और चेतना गुण वाला है ऐसा जानो।

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होई ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणत्ति ॥१३॥

जीव उपयोगात्मक है। उपयोग का अर्थ है ज्ञान और दर्शन। ज्ञानोपयोग भी दो प्रकार का है :—स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान।

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति ।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥१४॥
सण्णाणं चउभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं ।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव ॥१५॥

जो केवल अर्थात् निरुपाधिरूप, इन्द्रियातीत और असहाय अर्थात् प्रत्येक वस्तु में व्यापक है वह स्वभाव ज्ञान है, उसीका नाम केवल ज्ञान है।

---

(१०) प्रवच० १०० (११) कार्तिके० १७८ (१२) प्रवच० २-८० (१३) नियम० १०
(१४) नियम० ११ (१५) नियम० १२

विभाव ज्ञान सज्ज्ञान और असज्ज्ञान के भेद से दो तरह का है। सज्ज्ञान चार प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय। कुमति, कुश्रुत और कुअवधि के भेद से असज्ज्ञान तीन प्रकार का है।

[पांच इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द का ज्ञान एवं सुख दुःख का ज्ञान। शब्दों को सुन कर जो पदार्थ का ज्ञान होता है वह श्रुत ज्ञान कहलाता है। इन्द्रियों की सहायता के बिना जो परोक्ष पुद्गल (भौतिक पदार्थ) का ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान और दूसरे के मन में विचार रूप से आये हुए भौतिक पदार्थों का ज्ञान मनः पर्यय कहा जाता है। जब मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञान सम्यक्त्व रहित आत्मा के होते हैं तब ये ही क्रम से कुमति, कुश्रुत और कुअवधि कहलाते हैं। मन : पर्ययज्ञान कुमन : पर्यय ज्ञान नहीं होता क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि के ही होता है, सम्यक्त्व रहित (मिथ्यात्वी) के नहीं।]

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो ।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥१६॥

इसी तरह दर्शनोपयोग के भी दो भेद हैं—स्वभाव दर्शनोपयोग और विभाव दर्शनोपयोग। जो इन्द्रिय रहित और असहाय है वह केवल-दर्शन स्वभावदर्शनोपयोग है।

[यह केवलदर्शनोपयोग अरिहंत और सिद्ध आत्माओं के ही होता है।]

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णिवि भणिदं विभावदिच्छित्ति ।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो व णिरवेक्खो ॥१७॥

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधि दर्शन ये तीनों विभाव दर्शनोपयोग हैं। पर्याय के भी दो भेद हैं—स्वपरापेक्ष और निरपेक्ष सिद्धपर्याय निरपेक्ष और नर नारकादि संसारी पर्याय स्वपरापेक्ष हैं क्योंकि इनमें स्व-आत्मा और परकर्म की अपेक्षा है।

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा ।
कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥१८॥

मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव ये जो जीव की चार पर्याय हैं वे विभाव पर्याय अर्थात कर्माधीन पर्याय हैं। तथा कर्मोपाधि विवर्जित जो सिद्ध (मुक्तात्मा) पर्याय है वह आत्मा की स्वभाव पर्याय है।

---

(१६) नियम० १३ (१७) नियम० १४ (१८) नियम० १५

मुक्त जीव

सिद्धा संसारत्था दुविहा जीवा जिणेहिं पण्णत्ता ।
असरीरा णंतचउट्ठयण्णिया णिव्वुदा सिद्धा ॥१९॥

सिद्ध (मुक्त) और संसारी इस प्रकार जीवों के दो भेद हैं। जो शरीर रहित, अनन्तचतुष्टय सहित तथा जिनकी कषाय एवं वासनायें नष्ट हो गई हैं, वे सिद्ध हैं।

णिद्दंडो णिद्द्वंद्वो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥२०॥

जो मन, वचन और कायरूप दण्ड अर्थात् योगों से रहित है; जो किसी भी प्रकार के संघर्ष से, अथवा शुभ और अशुभ के द्वंद्व से रहित है; जो बाह्य पदार्थों की सम्पूर्ण ममता से रहित है; जो शरीर रहित है; जिसे किसी प्रकार का आलंबन नहीं है; जो रागरहित, द्वेष रहित, मूढ़ता रहित और भय रहित है वही आत्मा (सिद्धात्मा) है।

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोस णिम्मुक्को ।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥२१॥

जो सब प्रकार के परिग्रह से रहित है, जो राग रहित, तीन प्रकार की शल्य (माया, मिथ्यात्व और निदान-भोगासक्ति) रहित और संपूर्ण दोषों से निर्मुक्त है; जो निष्काम (वासना अथवा इच्छा रहित), निःक्रोध, निर्मान और निर्मद है, वही आत्मा (सिद्धात्मा) है।

वण्णरसगंधफासा थीपुंसणओसयादिपज्जाया ।
संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति ॥२२॥

वर्ण, रस, गंध और स्पर्श ये जीव के नहीं हैं। स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि पर्याय भी जीव की नहीं होतीं। नाना प्रकार की शारीरिक आकृतियां और शरीर के बंधन विशेष भी जीव (सिद्ध) के नहीं होते।

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा ।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो [illegible] सिद्धो ॥२३॥

श्री महावीर दि० जैन वाचनालय श्री महावीर जी (राज.)

---

(१९) वसु० श्रा० ११ (२०) नियम० [illegible] (२१) नियम० [illegible] (२२) नियम० ४५
(२३) मोक्ष पा० ६

जो मल रहित, शरीर मुक्त, अतीन्द्रिय, निःसंग, विशुद्धस्वरूप, परमेष्ठी, परमजिन, शिवंकर और शाश्वत है, वही आत्मा सिद्ध है।

संसारी और सिद्ध जीवों की समानता

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया ॥२४॥

जैसे लोक के अग्रभाग में शरीर रहित, विनाश रहित, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा सिद्ध स्थित हैं, वैसे ही निश्चय दृष्टि से संसारी जीव भी समझना चाहिए।

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लियजीवतारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ॥२५॥

जैसे जरा, मरण और जन्म से रहित एवं सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणों से अलंकृत सिद्ध जीव हैं, वैसे ही निश्चय दृष्टि से संसारी जीव भी हैं।

जीव का स्वदेह परिमाणत्व

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमित्तं पभासयदि ॥२६॥

जैसे दूध में डाली हुई पद्मरागमणि उसे अपने रंग से प्रकाशित कर देती है, वैसे ही देह में रहने वाला आत्मा भी अपनी देह मात्र को अपने रूप से प्रकाशित कर देता है अर्थात वह स्वदेह में ही व्यापक है देह के बाहर नहीं। इसीलिये जीव स्वदेह परिमाण वाला है।

जीव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व

कत्ता सुहासुहाणं कम्माणं फलभोयओ जम्हा।
जीवो तप्फलभोया भोया सेसा ण कत्तारा ॥२७॥

जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मों का कर्त्ता है, क्योंकि वही उनके फल का भोक्ता है। इसके अतिरिक्त कोई भी द्रव्य न कर्मों का भोक्ता है और न कर्त्ता।

---

(२४) नियम० ४८ (२५) नियम० ४७ (२६) पंचास्ति० ३३
(२७) वसु० श्रा० ३५

जीवो वि हवइ पावं अइतिव्वकसायपरिणदो णिच्चं ।
जीवो हवेइ पुण्णं उवसमभावेण संजुत्तो ॥२८॥

अत्यंत तीव्र कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ आदि) से परिणत जीव ही सदा 'पाप' कहलाता है और उपशम भाव (क्रोधादि कषायों की शांति) से संयुक्त जीव पुण्य ।

देह संयुक्त जीव की क्रियायें

देहमिलिदो वि पिच्छदि देहमिलिदो वि णिसुण्णदे सद्दं ।
देहमिलिदो वि भुंजदि देहमिलिदो वि गच्छेई ॥२९॥

देह से संयुक्त यह जीव आंख से नाना प्रकार के रंगों को देखता है, कानों से नाना प्रकार के शब्दों को सुनता है, जीभ से नाना प्रकार के भोजनों का आस्वाद लेता है और देह मिलित होकर ही इधर उधर चलता है ।

इन्द्रियों की अपेक्षा जीवों के भेद

एइंदियस्स फुसणं एक्कं चिय होइ सेसजीवाणं ।
एयाहिया य तत्तो जिब्भाघाणक्खिसोत्ताइं ॥३०॥

एकेन्द्रिय जीव के केवल स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है बाकी के जीवों के क्रमशःजीभ, नाक, आंख और कान इस प्रकार एक एक इन्द्रिय अधिक होती है ।

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया ।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ॥३१॥

अंडों में बढ़ते हुए प्राणी, गर्भस्थ मनुष्य और मूर्च्छित लोग जैसे होते हैं वैसे ही बुद्धि के व्यापार रहित एकेन्द्रिय जीव होते हैं ।

संबुक्कमादुवाहासंखा सिप्पी अपादगा य किमी ।
जाणंति रसं फासं जे ते बेइंदिया जीवा ॥३२॥

शंबूक, मातृवाह, शंख, सीपी और बिना पैरों के कीडे जो केवल रस और स्पर्श को ही जानते हैं दो इन्द्रियों वाले जीव हैं ।

---

(२८) कार्तिके० १९०   (२९) कार्तिके० १८६   (३०) पंच० सं०
(३१) पंचास्ति० ११३   (३२) पंचास्ति० ११४

जूगागुंभीमक्करणपिपीलियाविच्छयादिया कीडा ।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ॥३३॥

जूं, कुंभी, खटमल, चिंउटी और विच्छू आदि कीडे स्पर्शन, रसन और घ्राण इन तीन इन्द्रियों वाले हैं; और वे इन इन्द्रियों से क्रमशः स्पर्श, रस और गंध को जानते हैं।

उद्दंसमसयमक्खियमधुकरिभमरापतंगमादीया ।
रूवं रसं च गंधं फासं पुण ते विजाणंति ॥३४॥

डांस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भंवरा और पतंगे आदि जीव स्पर्श, रस, गंध और रूप को भी जानते हैं।

सुरणरणारयतिरिया–वण्णरसप्फासगंधसद्दण्हू ।
जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेंदिया जीवा ॥३५॥

देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंच जलचर, स्थलचर और आकाशचारी जीव वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्द को जानने वाले हैं; इसलिए ये पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। ये अन्य जीवों की अपेक्षा बलवान होते हैं।

अध्यात्म भाषा की अपेक्षा जीवों के भेद

जीवा हवंति तिविहा बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य ।
परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य ॥३६॥

जीव तीन प्रकार के हैं:—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। परमात्मा के दो भेद हैं:—एक अरहंत और दूसरे सिद्ध।

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण ।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥३७॥

भगवान ने कहा है कि बहिरात्मापने को छोड़ कर तथा अंतरात्मा बन कर मन, वचन और काय से परमात्मा का ध्यान करना चाहिए अर्थात उसी की प्राप्ति अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहिये।

(३३) पंचास्ति० ११५ (३४) पंचास्ति० ११६ (३५) पंचास्ति० ११७
(३६) कार्तिके० १९२ (३७) मोक्ष पा० ७

तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो दु हेऊणं ।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि वहिरप्पा ॥३८॥

इन तीनों आत्माओं में वहिरात्मा विल्कुल छोड़ देने के योग्य है और अंतरात्मा परमात्मा की प्राप्ति के लिए साधन है तथा परमात्मा साध्य है; इसलिए साध्य और साधन की ओर ही ध्यान देना चाहिए वहिरात्मा की ओर नहीं।

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भज्जए देवो ॥३९॥

इन्द्रियों में आसक्ति वहिरात्मा है और आत्म-संकल्प अर्थात कर्म, रागद्वेष-मोहादि परिणाम रहित यह आत्मा मेरे शरीर में रहता है जो शरीर से भिन्न है इस प्रकार का विवेक अंतरात्मा है तथा कर्म कलंक विमुक्त आत्मा परमात्मदेव कहलाता है।

वहिरात्मा का स्वरूप

देहमिलिदो वि जीवो सव्वकम्मापि कुव्वदे जह्मा ।
तह्मा पयट्टमाणो एयत्तं बुज्झदे दोह्णं ॥४०॥

क्योंकि देह से मिला हुआ ही आत्मा सारे काम करता है; इसलिए किसी भी कार्य में प्रवर्त्तमान यह आत्मा (वहिरात्मा) दोनों में एकत्व का भान करता है।

राओहं भिच्चोहं सिट्ठिहं चेव दुब्बलो बलिओ ।
इदि एयत्ताविट्ठो दोह्णं भेयं ण बुज्झेदि ॥४१॥

मैं राजा हूँ, मैं नौकर हूँ, मैं सेठ हूँ, मैं दुर्वल हूँ, मैं वलवान हूँ, इस प्रकार शरीर और आत्मा के एकत्व से आविष्ट यह जीव दोनों के भेद को नहीं समझता।

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढ़दिट्ठीओ ॥४२॥

वहिरात्मा अपने स्वरूप से च्युत होकर इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों

---

(३८) मोक्ष पा० ४ (३९) मोक्ष पा० ५ (४०) कार्तिके० १८५
(४१) कार्तिके० १८७ (४२) मोक्ष पा० ८

में स्फुरित होता हुआ (घूमता हुआ) अपने शरीर को ही आत्मा मानने का अध्यवसाय (संकल्प) करता है।

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं ।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ॥४३॥

जिन्होंने आत्म तत्त्व को नहीं समझा ऐसे मनुष्यों का शरीर और सुत दारादि के विषय में स्वपराध्यवसाय (यह मेरा है और वह दूसरे का इस प्रकार का संकल्प) के कारण मोह (आसक्ति) बढ़ जाता है।

मिच्छत्तपरिणदप्पा तिव्वकसाएण सुट्ठुआविट्ठो ।
जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा ॥४४॥

मिथ्यात्व रूप परिणमन करने वाला आत्मा तीव्र कषाय (क्रोधादि) से अत्यंत आविष्ट होकर जीव और देह को एक मानने लगता है और इसीलिये वह बहिरात्मा है।

[इस बहिरात्मा के तीन भेद हैं:—मिथ्यात्व गुणस्थान वाला तीव्र बहिरात्मा, सासादन गुणस्थान वाला मध्यम बहिरात्मा और सम्यङ्मिथ्यात्व गुणस्थान वाला जीव मंद बहिरात्मा है।]

अन्तरात्मा का स्वरूप और भेद

जे जिणवयणे कुसला भेदं जाणंति जीवदेहाणं ।
णिज्जिय दुट्ठट्ठमया अंतरअप्पा य ते तिविहा ॥४५॥

जो जिनवचन समझने में कुशल हैं तथा देह और आत्मा का भेद समझते हैं, जिन्होंने आठ प्रकार के दुष्ट मदों को जीत लिया है वे अन्तरात्मा हैं और उनके तीन भेद हैं।

अविरयसम्मद्दिठी होंति जहण्णा जिणंदपयभत्ता ।
अप्पाणं णिंदंता गुणगहणे सुट्ठु अणुरत्ता ॥४६॥

जो अविरत सम्यग्दृष्टि अर्थात चतुर्थगुणस्थानवर्त्ती सम्यग्दृष्टि आत्मा है, जो जिन भगवान के चरणों के भक्त हैं, जो अपनी कमियों को बुराई के रूप में अनुभव करते हैं और जो गुणों के ग्रहण में अच्छी तरह अनुरक्त हैं वे जघन्य अन्तरात्मा हैं।

---

(४३) मोक्ष पा० १०　　(४४) कार्तिके० १९३　　(४५) कार्तिके० १९४
(४६) कार्तिके० १९७

सावयगुणेहिं जुत्ता पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति ।
जिणवयणे अणुरत्ता उवसमसीला महासत्ता ॥४७॥

श्रावक के गुणों कर सहित अर्थात् अणुव्रती तथा प्रमत्तविरत अर्थात गृहत्यागी छट्ठे गुणस्थान वाले साधक मध्यम अतरात्मा हैं। ये जिन वचन में अनुरक्त, उपशम शील और महासत्त्व अर्थात परिषह और उपसर्गों से विचलित न होने वाले होते हैं।

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिराभावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥४८॥

ज्ञान और दर्शन ही जिसका आत्मभूत लक्षण है ऐसा केवल मेरा आत्मा ही शाश्वत है। अवशिष्ट सारे बाह्य पदार्थ संयोग लक्षण वाले हैं अर्थात शाश्वत नहीं हैं।

आदा खु मज्झणाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पंचक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥४९॥

मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन और चरित्र में आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान (त्याग) में आत्मा है और मेरे संवर तथा योग में आत्मा है अर्थात ये सभी आत्मस्वरूप हैं।

पंचमहव्वयजुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिया णिच्चं ।
णिज्जिय सयल पमाया उक्किट्ठा अंतरा होंति ॥५०॥

जो पंचमहाव्रत सहित हैं, जो धर्म एवं शुक्लध्यान में सदा स्थित रहते हैं और जिन्होंने सारे प्रमादों पर विजय पा ली है वे उत्कृष्ट अंतरात्मा हैं।

परमात्मा का स्वरूप और भेद

ससरीरा अरहंता केवलणाणेण मुणियसयलत्था ।
णाणसरीरासिद्धा सव्वुत्तमसुक्खसंपत्ता ॥५१॥

जो शरीर सहित हैं, किन्तु केवलज्ञान से जिन्होंने सारे पदार्थों को जान लिया है वे अरहंत परमात्मा हैं और जिनका ज्ञान ही शरीर है, जो सर्वोत्तम अतीन्द्रिय सुख की संपदा सहित हैं वे सिद्ध परमात्मा हैं।

---

(४७) कार्तिके० १९६ (४८) भाव पा० ५९ (४९) भाव पा० ५८
(५०) कार्तिके० १९५ (५१) कार्तिके० १९८

आत्मा का आदर्श चिंतन

रयणत्तायसंजुत्तो जीवो वि हवेइ उत्तामं तित्थं ।
संसारं तरइ जदो रयणत्तायदिव्वणावाए ॥५२॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय सहित आत्मा ही उत्तम तीर्थ होता है; क्योंकि ऐसा आत्मा ही रत्नत्रयरूप दिव्य नाव से संसार के पार पहुंच सकता है।

से सुयं च मे अज्झत्थयं च मे—
बंधपमुक्खो अज्झत्थेव ॥५३॥

मैंने सुना है और अनुभव भी किया है कि बन्ध और मोक्ष आत्मा ही है।

जस्स ण कोहो माणो मायालोहो य सल्ललेसाओ ।
जाइजरामरणं वि य णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥५४॥

जिसके न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न शल्य (मिथ्यात्व और आसक्ति आदि आत्मा के कांटे) है, न लेश्या (रागादि सहित मन वचन और काय की प्रवृत्ति) है और न जन्म, जरा तथा मरण है तथा जो निरंजन (कर्म कालिमा रहित) है वही मैं हूँ।

फासरसरूवगंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो ।
सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥५५॥

स्पर्श, रस, रूप और गंध तथा शब्दादि पुद्गल पर्यायें जिसके नहीं होतीं ; जो शुद्ध चेतन स्वरूप और निरंजन है वह मैं हूँ।

सयल वियप्पे थक्के उप्पज्जइ को वि सासओ भावो ।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सो हु ॥५६॥

संपूर्ण विकल्पों के थम जाने पर जो कोई शाश्वत भाव उत्पन्न होता है वही आत्मा का स्वभाव है और वही निश्चय से मोक्ष का कारण है।

---

(५२) कार्तिके० १६१ (५३) आचारा० सू० ५–२२ (५४) तत्व० १६
(५५) तत्व० २१ (५६) तत्व० ६१

अध्याय ३

कर्म

[इस अध्याय में कर्म के स्वरूप, उसकी नाना अवस्थायें, उसके कारण और उसके विनाश आदि का संक्षेप में वर्णन है]

जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गिण्हिऊण काउडियं।
एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकाउडियं ॥१॥

जैसे कोई भार ढोने वाला पुरुष कावड़ के द्वारा भार ढोता है वैसे ही यह जीव काय रूपी कावड़ के द्वारा कर्मरूपी बोझे को ढोता है।

जीव और कर्म के संबंध की अनादिता

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो ।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्त सयं सिद्धं ॥२॥

जीव और शरीर का अनादि सम्बन्ध प्रकृति कहलाता है। उसे शील और स्वभाव भी कह सकते हैं। ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे सुवर्ण पाषाण में मल का अनादि सम्बन्ध है इसी तरह जीव और शरीर का सम्बंध भी अनादि है। ये दोनों किसी के बनाये हुए नहीं अपितु स्वयं सिद्ध हैं।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स ।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥३॥

आत्मा जिस भाव को करता है उस भावरूप कर्म का वह कर्त्ता होता है। ज्ञानी आत्मा का वह भाव ज्ञानमय और अज्ञानी आत्मा का अज्ञानमय होता है।

पुद्गलों का कर्मरूप परिणमन

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तह्मि सयं पुग्गलं दव्वं ॥४॥

आत्मा जिस भाव को उत्पन्न करता है उस भाव का वह कर्त्ता

(१) पंच सं. १-७६ (२) गो० कर्म० १ (३) समय० १२६ (४) समय० ६१

कहलाता है और उसके कर्त्ता होने पर पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्मरूप परिणमन करने लग जाता है।

ज्ञानी और अज्ञानी का भेद

जह कणयमग्गितवियं पि कणयहावं ण तं परिच्चयइ ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्तं ॥५॥
एवं जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं ।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणं तो ॥६॥

जैसे अग्नि में तपा हुआ भी सोना अपने कनक स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता इसी प्रकार कर्मोदय से तपा हुआ भी ज्ञानी आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव को नहीं छोड़ता; ज्ञानी ऐसा समझता है। किन्तु अज्ञानी राग को ही आत्मा मानता है क्यों कि वह अज्ञानरूप अंधकार से आछन्न है और अपने स्वभाव को नहीं जानता है।

कर्मों के भेद

कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु ।
पोग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु ॥७॥

कर्मत्व की अपेक्षा कर्म एक है, किन्तु द्रव्य और भाव की अपेक्षा उसके दो भेद हैं। पुद्गल पिण्ड (कर्मरूप परिणत जड़ पदार्थ) द्रव्य कर्म और उसकी शक्ति अथवा रागद्वेषादिक भाव भावकर्म कहलाते हैं।

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणियं ।
आउगणामागोदं तहंतरायं च मूलाओ ॥८॥

ज्ञानावरणीय (ज्ञान को रोकने वाला) दर्शनावरणीय (दर्शन को रोकने वाला) वेदनीय (सुख-सांसारिक सुविधाएं-अथवा दुःख देने वाला) मोहनीय (आत्मा के स्वरूप को भुला देने तथा रागद्वेष को उत्पन्न करने वाला) आयु (प्राणी को शरीर में रोक रखने वाला) नाम (शरीर आदि का निर्माण करने वाला) गोत्र (प्राणी में छोटे बड़े के व्यवहार का कारण) और अन्तराय (दान आदि में विघ्न डालने वाला) इस प्रकार कर्म के मूल आठ भेद हैं।

---

(५) समय० १८४ (६) समय० १८५ (७) गो० कर्म० ६ (८) पंच सं. २-२

आवरणमोहविग्घं घादी जीवगुणघादणत्तादो ।
आउगणामं गोदं वेयणियं तह अघादित्ति ॥९॥

दो आवरण (ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय) मोहनीय और अन्तराय; ये चार कर्म आत्मा के गुणों को घातते हैं अतः घाति कहलाते हैं। आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय; ये चार कर्म आत्मा के गुणों को नहीं घातते इसलिये अघाति कहे जाते हैं।

पड पडिहारसिमज्जा हडिचित्तकुलालभंडयारीणं ।
जह एदेसिं भावा तह वि य कम्मा मुणेयव्वा ॥१०॥

कपड़ा, (परदा) द्वारपाल, तलवार, शराब, आदमी को पैर डालकर रोक रखने वाला काठ का एक यंत्र, चित्रकार, कुंभकार और खजाञ्ची इन आठों का जैसा स्वभाव होता है, वैसा ही इन आठ कर्मों का क्रमशः स्वभाव होता है।

[कपड़े का पर्दा किसी वस्तु को ढक देता है उसका ज्ञान रोक देता है ऐसे ही ज्ञाना वरण भी वस्तु का ज्ञान नहीं होने देता। द्वारपाल राजा के दर्शनों में बाधक हो जाता है वैसे ही दर्शनावरण भी वस्तु के दर्शन नहीं होने देता। शहद लपेटी हुई तलवार की धार को कोई चाटे तो सुख और दुख दोनों होते हैं इसी तरह वेदनीय कर्म भी सुख और दुख दोनों का कारण है। जैसे शराब से आदमी उन्मत्त हो जाता है मोह भी इसी तरह उन्माद का कारण है। काठ का पैर फंसाने का यंत्र जिस तरह आदमी को रोके रखता है वैसे ही आयु कर्म जीव को रोके रखता है। चित्रकार जैसे नाना प्रकार के चित्र बनाता है वैसे ही नाम कर्म अनेक प्रकार के शरीर के अंग उपांगों का निर्माण करता है। कुंभकार जैसे छोटे बड़े घड़े आदि बर्तन बनाता है वैसे ही गोत्र कर्म प्राणी को छोटा बड़ा बनाता है। जैसे खजांची राजा के दिये हुए दान में विघ्न डाल देता है वैसे ही अंतराय कर्म मनुष्य के दान आदि में विघ्न डाल देता है।]

कर्मों की अवस्थाएं

कम्माणं संबंधो बंधो उक्कट्टणं हवे वड्ढी ।
संकमणमणत्थगदी हाणी ओकट्टणं णामं ॥११॥

कर्मों का आत्मा के साथ सम्बंध होना बंध, कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग (रस-फल-देना) का बढना उत्कर्षण, किसी कर्मरूप प्रकृति का किसी

---

(९) गो० कर्म ९ (१०) पंच सं. २-३ (११) गो० कर्म० ४३८

अन्य कर्म प्रकृति रूप बदलना संक्रमण, किसी कर्म की स्थिति या अनुभाग का कम होना अपकर्षण कहलाता है।

अण्णत्थठियस्सुदये संथुहणमुदीरणा हु अत्थित्तं ।
सत्तं सकालपत्तं उदओ होदित्ति णिद्दिट्ठो ॥१२॥

उदयकाल के बाहर स्थित अर्थात जिसके उदय का अभी समय नहीं आया है ऐसे कर्म को उदय में लाना उदीरणा, किसी पुद्गल स्कंध का कर्मरूप रहना सत्त्व और कर्म का स्वकाल को प्राप्त होना अर्थात फल देना उदय कहलाता है।

उदये संकममुदये चउसु वि दादुं कमेण णो सक्कं ।
उवसंतं च णिधत्तिं णिकाचिदं होदि जं कम्मं ॥१३॥

जो कर्म उदयावली में प्राप्त नहीं किया जाय अर्थात उदीरणा अवस्था को प्राप्त न हो सके उसे उपशान्त, जिस कर्म की उदीरणा और संक्रमण दोनों न हो सकें उसे निधत्त और जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारों ही अवस्थाएँ न हो सकें अर्थात जो अवश्य ही फल दे उसे निकाचित कहते हैं।

कर्मों का आस्रव

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥१४॥

आत्मा के जिस भाव से कर्म आते हैं वह भावास्रव तथा उन कर्मों का आना एवं वे कर्मरूप परिणत होने वाले पुद्गल स्कंध द्रव्यास्रव कहलाते हैं।

मिच्छत्ताविरइ-कसाय-जोयहेऊहिं आसवइ कम्मं ।
जीवम्हि उवहिमज्झे जह सलिलं छिद्दणावाए ॥१५॥

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार कारणों से जीव में कर्म का आस्रव होता है, ठीक ऐसे ही जैसे समुद्र में छिद्र वाली नौका से जल।

---

(१२) गो० कर्म० ४३६ (१३) गो० कर्म० ४४० (१४) द्रव्य० २६
(१५) वसु० श्रा० ३६

[अपने स्वरूप को भूलना मिथ्यात्व, पापों से विरक्त न होना अविरति, क्रोधादि रूप परिणाम होना कषाय और मन वचन एवं काय की चंचलता योग कहलाता है।]

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा ।
सादं सुहाउणामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥१६॥

शुभ भावों से युक्त जीवों को पुण्य जीव और अशुभ भावों से युक्त जीवों को पाप जीव कहते हैं। साता वेदनीय, शुभ आयु (देव, मनुष्य और तिर्यंचों की आयु) शुभनाम (तीर्थंकर प्रकृति, यशः कीर्ति आदि नाम कर्म की प्रकृतियाँ) और उच्च गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं और इनके अतिरिक्त सारी कर्मों की प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं।

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥१७॥

प्रमादबहुल चर्या (जीवन व्यवहार) कालुष्य, विषयों में चंचलता दूसरों को परिताप पहुँचाना और उनकी निन्दा करना ये सब पाप का आस्रव करते हैं।

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज ।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसोत्ति य तं बुधा वेंति ॥१८॥

जब क्रोध, मान, माया, अथवा लोभ चित्त को प्राप्त होकर उसमें क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं तब विद्वान लोग उसे कालुष्य कहते हैं।

तिसिदं वुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥१९॥

तृषातुर, भूखे एवं दुःखी प्राणी को देखकर जो स्वयं दुःखित मन होता हुआ कृपा से उसको प्राप्त होता है अर्थात् उसकी सहायता का प्रयत्न करता है, उसका वह भाव अनुकंपा कहलाता है।

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा ।
अणुगमणं पि य गुरुणं पसत्थरागोत्ति वुच्चंति ॥२०॥

---

(१६) द्रव्य० ३८ (१७) पंचास्ति० १३९ (१८) पंचास्ति० १३८
(१९) पंचास्ति० १३७ (२०) पंचास्ति० १३६

अरहंत, सिद्ध एवं साधुओं में भक्ति, धर्म में चेष्टा तथा गुरुओं का अनुसरण, ये सब प्रशस्त राग कहलाता है।

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥२१॥

जिस जीव के प्रशस्त राग, अनुकम्पा मिश्रित परिणाम और चित्त में कालुष्य का अभाव है उसके पुण्य का आस्रव होता है।

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥२२॥

अशुभ कर्म कुशील और शुभ कर्म सुशील होता है, ऐसी कुछ लोगों की समझ है, किन्तु कोई भी कर्म (बंधन) सुशील (अच्छा) कैसे हो सकता है ? जो प्राणी को संसार में प्रवेश करवाता है।

सौवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥२३॥

जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बांधती है वैसे ही सोने की बेड़ी भी बांधती है। इसी तरह जीव के द्वारा किया हुआ शुभ एवं अशुभ कर्म जीव को बांधता है।

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्लं पि ।
अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टदे जोवो ॥२४॥
कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥२५॥

जब तक अज्ञानी जीव आत्मा और आस्रव इन दोनों के विशेष अंतर को नहीं जानता, तब तक उसकी वर्त्तना क्रोधादि कषायों में ही होती है और इस प्रकार क्रोधादि कषायों में रहते हुए जीव के कर्मों का संचय होता है। इस तरह सर्वदर्शियों ने जीव के बंध होना बतलाया है।

---

(२१) पंचास्ति० १३५ (२२) समय० १४५ (२३) समय० १४६
(२४) समय० ६९ (२५) समय० ७०

कर्मों का बंध

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भाववंधो सो ।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥२६॥

जिस मोह, राग एवं द्वेष रूप चेतन भाव से कर्म बंधता है, वह भाववंध कहलाता है। तथा कर्म और आत्मप्रदेशों का परस्पर प्रवेश करना द्रव्यवंध कहा गया है।

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥२७॥

परिणाम (विकृतभाव) से बंध होता है और परिणाम के तीन भेद हैं:—राग, द्वेष तथा मोह। इनमें मोह और द्वेष अशुभ भाव तथा राग शुभ और अशुभ दोनों होता है। पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि रूप (राग) शुभ भाव हैं और विषय रति रूप (राग) अशुभ भाव होते हैं।

जह णाम को वि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइं सत्थेहिं वायामं ॥२८॥

छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२९॥

उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किं पच्चयगो दुरयबंधो ॥३०॥

जो सो दु णेह भावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥३१॥

एवं मिच्छादिट्ठी वट्टन्तो वहुविहासु चिट्ठासु ।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण ॥३२॥

जैसे कोई आदमी तेल लगाकर रेणुबहुल (अधिक धूल वाले) स्थान में ठहर कर शस्त्रों से व्यायाम (अभ्यास) करता है। वह ताड़, तमाल, केला बांस और अशोक के वृक्षों को छेदता है, भेदता है तथा उनके सचित्त

(२६) द्रव्य ३२ (२७) प्रवच० २-८८ (२८) समय० २३७ (२९) समय० २३८
(३०) समय० २३९ (३१) समय० २४० (३२) समय० २४

(जीव सहित) और अचित्त (जीव रहित) द्रव्यों का उपघात करता है तो सोचना चाहिए कि इस प्रकार अनेक तरह के कारणों से उपघात करते हुए उसके धूलि का बंध (चिपटजाना) वास्तव में किस कारण से होता है ? इसका उत्तर यह है कि उस मनुष्य में जो स्नेह भाव है (तेल लगा हुआ है) वास्तव में उसीसे उसके रजकाबंध होता है ऐसा जानना चाहिए। इसके अतिरिक्त शरीर की चेष्टाओं से उसके रज का बंध नहीं होता। ऐसे ही नाना प्रकार की चेष्टाओं में वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव अपने उपयोग में रागादि को करता हुआ कर्म रूप रज से लिप्त होता है।

कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥३३॥

क्रोधादिकों में वर्त्तमान जीव के उस कर्म का संचय होता है। सर्वदर्शियों ने जीव के इसी तरह बंध बतलाया है।

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ॥३४॥

रागी जीव कर्म को बांधता है और विरागी (वीतराग) आत्मा कर्मों को छोड़ता है। यही जिनोपदेश है। इसलिये कर्मों (क्रिया) में राग मत करो।

कर्मबंध के भेद

अण्णोण्णाणुपवेसो जो जीवपएसकम्मखंधाणं ।
सो पयडिट्ठिदि-अणुभद-पएसदो चउविहो बंधो ॥३५॥

जीव प्रदेश और कर्मस्कंधों का एक दूसरे में अनुप्रवेश होना बंध कहलाता है और उसके चार भेद हैं:—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेश बंध।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥३६॥

प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग इस प्रकार बंध के चार भेदों में प्रकृति और प्रदेश बंध योग (मन, वचन और काय की चंचलता) से तथा स्थिति और अनुभाग बंध कषाय (मोह, राग और द्वेष) से होते हैं।

(३३) समय ७० (३४) समय० १५० (३५) वसु० श्रा० ४१ (३६) द्रव्य० ३३

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारण

पडिणीगमन्तराए उवघादो तप्पदोसणिण्हवणे ।
आवरणदुगंभूयो बंधदि अच्चासणाएवि ॥३७॥

ज्ञानियों का अविनय करना, ज्ञानार्जन या ज्ञानप्रचार में अन्तराय डालना, प्रशंसा योग्य ज्ञान में द्वेष रखना, उसकी प्रशंसा न करना या ज्ञानियों के लिए भूख प्यास आदि की बाधा उपस्थित करना, प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगाना, उसके उपदेश को अच्छा नहीं मानना, तत्त्वज्ञान की बातें सुनकर खुश नहीं होना बल्कि अंतरंग में उसके साथ द्वेष रखना, ज्ञान को छिपाना कोई विद्वान न हो जाय यह समझ कर किसी को ज्ञान नहीं देना अथवा अपने गुरु का नाम छिपाना, किसी के प्रशंसा योग्य भाषण आदि की प्रशंसा न कर उसे बीच में ही रोक देना ये सब कार्य ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण के कारण हैं। ये छह कारण ज्ञान के विषय में हों तो ज्ञानावरण और दर्शन के विषय में हों तो दर्शनावरण कर्म की स्थिति और अनुभाग बंध की बहुलता में कारण होते हैं।

वेदनीय

भूदाणुकंपवदजोगजुंजिदो खंतिदाणगुरुभत्तो ।
बधदिभूयो सादं विवरीयो बंधदे इदरं ॥३८॥

प्राणियों पर दया करना, अहिंसादि व्रतों का पालन करना, योग धारण करना, क्षमा, दानदेना और पंचपरमेष्ठी की भक्ति करना ये सब बहुत से साता वेदनीय कर्म (सांसारिक सुख-सुविधाओं का कारण) का आस्रव करते हैं। और इनसे उलटे काम असाता वेदनीय (दुःखों का कारण) कर्म का बंध करते हैं।

दर्शन मोहनीय कर्म

अरहंतसिद्धचेदिय-तवसुदगुरुधम्मसंघपडिणीगो ।
बंधदि दंसणमोहं अणंतसंसारिओ जेण ॥३९॥

जो जीव अरहंत, सिद्ध, प्रतिमा, तप, शास्त्र, गुरु, धर्म और संघ इनसे, प्रतिकूल हो कर इनका अवर्णवाद (निंदा) करे वह दर्शन मोह का बंध करता है और उससे वह अनत संसार में भटकता है।

---

(३७) गो० कर्म० ८०० (३८) गो० कर्म० ८०१ (३९) गो० कर्म० ८०२

चारित्र मोहनीय कर्म

तिव्वकसाओ बहुमोहपरिणदो रागदोससंतत्तो ।
बंधदि चरित्तमोहं दुविहं पि चरित्तगुणघादी ॥४०॥

जो जीव तीव्र कषायी और हास्य, रति, अरति आदि ईषत् (थोड़ा) कषाय वाला है तथा रागद्वेष से संतप्त रहता है वह चारित्र गुण का घाती क्रोध, मान, माया, और लोभ तथा हास्यादि कषायों का बंध करता है ।

आयु कर्म

मिच्छो हु महारंभो, णिस्सीलो तिव्वलोहसंजुत्तो ।
णिरयाउगं णिबंधइ, पावमई रुद्दपरिणामी ॥४१॥

जो मिथ्यादृष्टि हो, बहुत आरंभी हो, शील रहित हो, तीव्र लोभी हो, रौद्र परिणामी हो और पाप कार्य करने की बुद्धिवाला हो वह नरकायु का वध करता है ।

उम्मग्गदेसगो मग्गणासगो, गूढहियय माइल्लो ।
सठसीलो य ससल्लो, तिरयाउं बंधदे जीवो ॥४२॥

जो जीव विपरीत मार्ग का उपदेश करने वाला हो, भले मार्ग का नाश करने वाला हो, जिसका हृदय गूढ़ हो, (जिसके हृदय की कोई थाह नहीं पा सके) जो मायाचारी हो, दुर्जनता करना जिसका स्वभाव बन गया हो और जो माया, मिथ्यात्व तथा निदान इन तीन शल्य (मानसिक कांटे) वाला हो, वह तिर्यंच गति का बंध करता है ।

पयडीए तणुकसाओ दाणरदी सीलसंजमविहीणो ।
मज्झिमगुणेहिं जुत्तो मणुवाऊं बंधदे जीवो ॥४३॥

जो स्वभाव से ही मंदकषायी हो, दान में प्रेम रखने वाला हो; किन्तु शील और संयम से रहित हो, जो मध्यम गुणों से युक्त हो वह जीव मनुष्य आयु का बंध करता है ।

अणुवदमहव्वदेहिं य बालतवाकामणिज्जराए य ।
देवाउगं णिबंधइ सम्माइट्ठी य जो जीवो ॥४४॥

---

(४०) गो० कर्म० ८०३ (४१) गो० कर्म० ८०४ (४२) गो० कर्म० ८०५
(४३) गो० कर्म० ८०६ (४४) गो० कर्म० ८०७

जो सम्यग्दृष्टि है वह सिर्फ सम्यक्त्व के द्वारा अथवा केवल अणुव्रत और महाव्रतों से और जो मिथ्यादृष्टि है वह आत्मज्ञान रहित तप से या अकाम निर्जरा (बिना इच्छा बंधन आदि से हुई निर्जरा) से देवायु का बंध करता है अर्थात वह मर कर देव होता है।

नाम कर्म

मणवयणकायवक्को माइल्लो गारवेहिं पडिबद्धो ।
असुहं बंधदि णामं तप्पडिवक्खेहिं सुहणामं ॥४५॥

जो मन वचन और शरीर से कुटिल हो, मायाचारी हो, अपनी प्रशंसा करने वाला या चाहने वाला हो, वह अशुभ नाम कर्म का और इनसे उलटे काम करने वाला शुभ नाम कर्म का बंध करता है।

गोत्रकर्म

अरहंतादिसु भत्तो सुत्तरुची पढणुमाणगुणपेही ।
बंधदि उच्चागोदं विवरीओ बंधदे इदरं ॥४६॥

जो जीव अरहंतादि पंच परमेष्ठियों में भक्तिवाला हो, शास्त्र में रुचि रखने वाला हो, पढना, विचार करना आदि गुणों की ओर ध्यान देने वाला हो वह उच्चगोत्र और इनसे उलटे काम करने वाला नीच गोत्र का बंध करता है।

अंतराय कर्म

पाणवधादीसु रदो, जिणपूजामोक्खमग्गविग्घयरो ।
अज्जेइ अंतरायं, ण लहइ जं इच्छियं जेण ॥४७॥

जो जीव अपने या परके प्राणों की हिंसा करने में लीन हो, जो भगवान की उपासना और मोक्षमार्ग में विघ्न करने वाला हो वह अंतराय कर्म का बंध करता है, जिसके उदय से वह वांछित वस्तु को नहीं पा सकता।

कर्म बंधन और लेश्याएं

लिप्पइ अप्पीकीरइ एयाए णिय य पुण्णपावं च ।
जीवोत्ति होइ लेसा लेसागुणजाणयक्खाया ॥४८॥

---

(४५) गो० कर्म ८०८ (४६) गो० कर्म० ८०९ (४७) गो० कर्म० ८१०
(४८) पंच० सं० १-१४२

लेश्या गुण को जानने वाले गणधरादि आचार्यों ने प्राणी के उस भाव को लेश्या कहा है जिससे यह जीव अपने आपको पुण्य और पाप से लिप्त कर लेता है।

लेश्या के भेद

किण्हाणीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य ।
लेस्साणं णिद्देसा छच्चेव हवंति णियमेण ॥४९॥

इस लेश्या के छह भेद हैं:—कृष्णा, नीला, कापोता, पीता, पद्मा और शुक्ला।

लेश्या वालों के भावों के उदाहरण

पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्टारण्णमज्झदेसम्हि ।
फलभरियरुक्खमेगं पेक्खित्ता ते विचिंतंति ॥५०॥

णिम्मूलखंधसाहुवसाहं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं ।
खाउं फलाइं इदि जं मणेण वयणं हवे कम्मं ॥५१॥

जंगल के बीच में मार्गभ्रष्ट हुए छः पथिक फलों से भरे किसी वृक्ष को देखकर सोचते हैं कि मैं इस वृक्ष को बिल्कुल जड़ से उखाड़कर इसके फलों को खाऊं, दूसरा सोचता है जड़ से नहीं इसको तने से काट कर, तीसरा सोचता है तने से लगी हुई इसकी शाखाओं को काट कर, चौथा सोचता है इसकी उपशाखाओं को काट कर, पांचवाँ सोचता है इसके लगे हुए फलों को तोड़ कर और छठा सोचता है कि अपने आप टूट कर गिरे हुए इसके फलों को खाऊं। जैसा वे मन में सोचते हैं वैसा करते हैं। ये आत्मा के भले बुरे भावों के छः उदाहरण हैं।

शुभ और अशुभ लेश्याएं

किण्हाणीला काओ लेस्साओ तिण्हि अप्पसत्थाओ ।
पइसइ विरायकरणो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥५२॥

कृष्णा, नीला, और कापोता ये तीन लेश्याएँ अशुभ हैं। साधक इनका त्याग कर उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त होता है।

---

(४९) गो० जी० ४९२ (५०) गो० जी० ५०६ (५१) गो० जी०५०७
(५२) भग० आ० १९०८

तेओ पम्मा सुक्का लेस्साओ तिण्णिविदुपसत्थाओ ।
पडिवज्जेइय कमसो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥५३॥

पीता (तेजो लेश्या) पद्मा और शुक्ला ये तीन शुभ लेश्याएँ हैं। साधक इन्हें क्रमशः प्राप्त होकर उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त होता है।

कृष्ण लेश्या वाला जीव

चंडो ण मुयइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ ।
दुट्ठो ण य एइ वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥५४॥

जो अत्यंत क्रोधी हो, जो वैर विरोध को न छोडे, लडने का जिसका स्वभाव हो, धर्म और दया से जो रहित हो, जो दुष्ट हो, जो किसी के वश में न आवे, वह कृष्णलेश्या वाला जीव है।

नील लेश्या वाला जीव

मंदो बुद्धिविहीणो णिव्विण्णाणी य विसयलोलो य ।
माणी माई य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य ॥५५॥
णिद्दावंचणबहुलो धणधण्णे होइ तिव्वसण्णाओ ।
लक्खणमेयं भणियं समासओ णीललेसस्स ॥५६॥

जो काम करने में संद हो, बुद्धि रहित हो, कार्याकार्य का जिसको विवेक न हो अथवा कलाचातुर्य से रहित हो, इन्द्रियों के विषय में लंपट हो, मानी हो, मायाचारी हो, आलसी हो, भेद्य हो, (जिसके भावों में सरलता से तोड़फोड़ की जा सकती हो) अत्यंत निद्रालु हो, दूसरों को ठगने में चतुर हो एवं धन और धान्य की तीव्र लालसा रखने वाला हो उसके नीला लेश्या होती है।

कापोत लेश्या वाला जीव

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसणबहुलो य सोयभयबहुलो ।
असुवइ परिभवइ परं पसंसइ य अप्पयं बहुसो ॥५७॥
ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं पिव परंपि मण्णंतो ।
तूसइ अइथुव्वंतो ण य जाणइ हाणि-वड्ढीओ ॥५८॥

(५३) भग० गा० १६०६ (५४) पंच० सं० १–१४४ (५५) पंच सं० १–१४५
(५६) पंच सं० १–१४६ (५७) पंच० सं० १–१४७ (५८) पंच सं० १–१४८

मरणं पत्थेइ रणे देइ सु बहुयं पि थुव्वमाणो हु ।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स ॥५९॥

जो दूसरों पर रोष करता है, दूसरों की निंदा करता है, दोषों से भरा हुआ है, अधिक शोक और अधिक भय करने वाला है, दूसरों से ईर्ष्या करता है, दूसरों का तिरस्कार करता है और अपनी बहुत प्रशंसा करता है।

अपनी ही तरह दूसरों को मानता हुआ जो दूसरों का विश्वास नहीं करता, जो अपनी प्रशंसा करने वालों पर खुश होता है और जो नुकसान तथा फायदे को नहीं समझता,

जो लडाई में मरने की प्रार्थना करता है अर्थात उसे अच्छा समझता है, तारीफ करने पर जो बहुत कुछ दे डालता है और जो कार्याकार्य अर्थात कर्त्तव्य तथा अकर्तव्य को नहीं समझता वह कापोत लेश्या को धारण करने वाला जीव है।

तेजो लेश्या अथवा पीत लेश्या वाला जीव

जाणइ कज्जाकज्जं सेयासेयं च सव्वसमपासी ।
दय-दाणरदो य विदू लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥६०॥

जो कार्य अकार्य और श्रेय अश्रेय को जानता हो, जो सब को बराबर देखने वाला हो, जो दयादान में रत हो और कोमल परिणामी हो उसके पीत लेश्या होती है।

पद्मलेश्या वाला जीव

चाई भद्दो चोक्खो उज्जुयकम्मो य खमइ बहुयं पि ।
साहुगुणपूयणिरओ लक्खणमेयं तु पउमस्स ॥६१॥

जो दान देने वाला हो, भद्रपरिणामी हो, जिसका स्वभाव बहुत अच्छा हो, जो उज्जवल (प्रशंसा योग्य) काम करने वाला हो, जो बहुत सहन शील हो, साधुओं के गुणों के पूजन में रत हो, वह पद्म लेश्या वाला होता है।

---

(५९) पंच० सं० १-१४९ (६०) पंच० सं० १-१५० (६१) पंच० सं० १-१५१

शुक्ललेश्या वाला जीव

ण कुणेइ पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसु ।
णत्थि य राओ दोसो णेहो वि हु सुक्कलेसस्स ॥६२॥

पक्षपात न करना, निदान न करना अर्थात फल में आसक्ति न रखना, सब में समता बुद्धि रखना, इष्ट में राग और अनिष्ट में द्वेष न होना और सांसारिक वस्तुओं में स्नेह न होना शुक्ल लेश्या का लक्षण है।

कर्म बंध का संक्षेप

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥६३॥

जो आत्मा रक्त है—पर द्रव्य में आसक्ति रखता है—वही कर्म को बांधता है और जो राग रहित है वह कर्म बंध से मुक्त होता है। वास्तव में जीवों के बंध का संक्षेप यही है।

कर्म बंध से मुक्ति

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
बंधों छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तवो ॥६४॥

जीव और बंध अपने अपने निश्चित लक्षणों से इस प्रकार भिन्न किये जाते हैं कि बंध तो छोड़ दिया जाता है और शुद्ध आत्मा ग्रहण कर लिया जाता है।

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च ।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणई ॥६५॥

बंध और आत्मा के स्वभाव को जान कर जो कर्म बन्धनों से विरक्त हो जाता है वही कर्मों से छुटकारा पाता है।

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ ।
पिहियासवस्स दन्तस्स पावं कम्मं न बन्धइ ॥६६॥

जो सब जीवों को अपने समान समझता है, सब जीवों को समान

(६२) पंचसं० १–१५२ (६३) प्रवच० २–८७ (६४) समय० २९५
(६५) समय० २९३ (६६) दशवै० ४–९

दृष्टि से देखता है और जिसने सब कर्मास्रवों का निरोध कर लिया है, जो इन्द्रियों का दमन कर चुका है उसे पाप कर्म का बंध नहीं होता।

कर्मो का संवर (रुकना)

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥६७॥

कर्मों के आस्रव को रोकने में जो चेतन परिणाम कारण हैं वह भाव संवर है और द्रव्यास्रव का रुकना द्रव्य संवर है।

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीय भावं च ।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥६८॥

कर्मों के आस्रव का अशुचिपना एवं विपरीतपना समझ कर और यह जान कर कि ये दुःख के कारण हैं, जीव इनकी निवृत्ति करता है।

जह रुद्धम्मि पवेसे सुस्सइ सरपाणियं रविकरेहिं ।
तह आसवे णिरुद्धे तवसा कम्मं मुणेयव्वं ॥६९॥

जैसे प्रवेश (जल के आने का मार्ग) के रुक जाने पर सूरज की किरणों से तालाब का पानी सूख जाता है उसी प्रकार यह जानना चाहिए कि आस्रव के रुक जाने पर तप के द्वारा कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स ।
संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स ॥७०॥

जिस विरक्त के योग (मन, वचन और काय की प्रवृत्ति) में पाप और पुण्य नहीं होते, उसके शुभ और अशुभ भावों के द्वारा किये गये कर्म का संवरण (रुकना) हो जाता है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं सम सुह दुक्खस्स भिक्खुस्स ॥७१॥

जिस भिक्षु (साधक) के सुख और दुःख समान हैं और इसीलिए जिसके सभी पदार्थों में राग, द्वेष और मोह नहीं है उसके शुभ और अशुभ कर्म का आस्रव नहीं होता।

---

(६७) द्रव्य० ३४ (६८) समय० ७२ (६९) वसु० श्रा० ४४
(७०) पंचास्ति० १४३ (७१) पंचास्ति० १४१

परिहरिय रायदोसे सुण्णं काऊण णियमणं सहसा ।
अत्थइ जाव ण कालं ताव ण णिहणेइ कम्माइं ॥७२॥

यह जीव रागद्वेष का परिहार कर और तत्काल अपने मन को शून्य (निर्विषय) बना कर जब तक नहीं ठहरता तब तक न तो संचित कर्मों का हनन कर सकता है और न आते हुए कर्मों को रोक सकता है।

कर्मों की निर्जरा

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥७३॥

जिस भाव के द्वारा समय पाकर अथवा तप से कर्म पुद्गल भुक्तरस होकर अर्थात भोग लिया जाकर अलग हो जाता है वह भाव; भाव निर्जरा और उसका अलग होना द्रव्य निर्जरा इस प्रकार निर्जरा के दो भेद हैं।

पक्के फलम्मि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे ।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥७४॥

जैसे पका हुआ फल गिर कर फिर डंठल के साथ सबंध को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार कर्मत्व भाव के विनाश होजाने पर फिर वह पुद्गल आत्मा के साथ उदय अथवा संबंध को प्राप्त नहीं होता।

कालेण उवायेण य पच्चंति जहा वणफ्फदिफलाइं ।
तह कालेण तवेण य पच्चंति कदाणि कम्माणि ॥७५॥

जैसे समय पाकर अथवा उपाय से वनस्पति (वृक्ष और लता आदि) के फल आदि पक जाते हैं वैसे ही काल अथवा तप के द्वारा पूर्वकृत कर्म पक जाते हैं अर्थात फल देकर छूट जाते हैं।

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा ।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ॥७६॥

पहले किये हुए कर्मों का फल देकर अलग होजाना निर्जरा है और उसके दो भेद हैं :—विपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। कर्मों का फल

---

(७२) आराधना० ७१ (७३) द्रव्य सं० ३६ (७४) समय० १६८
(७५) भग० आ० १८४८ (७६) भग० आ० १८४७

देकर आत्मा से अलग होना सविपाक निर्जरा है और विना फल दिये ही अलग हो जाना अविपाक निर्जरा है।

जहा जुन्नाइं कट्ठाइं, हव्ववाहो पमत्थइ ।
एवं अत्तसमाहिए अणिहे, विगिंच कोहं अविकपमाणे ॥७७॥

जैसे पुराने (सूखे) काष्ठ को आग जला देती है उसी तरह आत्म समाहित (अपने आप में लगे हुए) राग रहित और क्रोध को छोड़ कर स्थिर वने आत्मा के कर्म शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावत्ति भणिय मण्णेसु ।
परिणामो पण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥७८॥

अपने आत्मा से भिन्न पंचपरमेष्ठी आदिकों में भक्ति, स्तुति आदि रूप शुभ परिणाम पुण्य और परद्रव्य में रागद्वेप रूप अशुभ परिणाम पाप हैं। किन्तु इन दोनों से भिन्न आत्मा का शुद्धोपयोगात्मक परिणाम शास्त्र में दु:ख क्षय का कारण बतलाया गया है।

कर्म विमोक्ष

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेयो स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुधभावो ॥७९॥

सारे कर्मों के क्षय का कारण आत्मा का जो परिणाम है वह भाव मोक्ष और इन कर्मों का आत्मा से अलग होना द्रव्यमोक्ष कहलाता है।

खीणे मणसंचारे तुट्ठे तह आसवे य दुवियप्पे ।
गलइ पुराणं कम्मं केवलणाणं पयासेइ ॥८०॥

मन का संचार क्षीण हो जाने और शुभाशुभ अथवा द्रव्य भावरूप आस्रव के टूट जाने पर पुराने कर्म नष्ट हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

णिस्सेसकम्ममोक्खो मोक्खो जिणसासणे समुद्दिट्ठो ।
तम्हि कए जीवोऽयं अणुहवइ अणंतयं सोक्खं ॥८१॥

संपूर्ण कर्मों का क्षय होना ही जिन शासन में मोक्ष कहा गया है। उसी के प्राप्त होने पर यह जीव अनंत सुख का अनुभव करता है।

---

(७७) आचारा० सू० ४–१८ (७८) प्रवच० २–८६ (७९) द्रव्य० ३७
(८०) आराधना० ७३ (८१) वसु० श्रा० ४५

णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे वाहा ।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥८२॥

जहां दुःख नहीं है, सुख (ऐन्द्रिय सुख) नहीं है, न किसी प्रकार की पीडा और न बाधा, न मरण है और न जन्म; वहां ही निर्वाण होता है।

णवि इंदियउवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य ।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥८३॥

जहां न इन्द्रियां हैं न उपसर्ग, (परकृत कष्ट) न मोह है न आश्चर्य, न निद्रा है, न प्यास और न भूख; वहां ही निर्वाण है।

---

(८२) नियम० १७९ (८३) नियम० १८०

अध्याय ४

गुणस्थान

[इस अध्याय में गुणस्थानों का वर्णन है। जीव के आध्यात्मिक विकास के क्रम को गुणस्थान कहते हैं। यहां गुण का अर्थ जीव और स्थान का अर्थ क्रम है। इस क्रम के चौदह भेद हैं। इन चौदह भेदों के स्वरूप को बतलाने वाली गाथाओं का इस अध्याय में संकलन है।]

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देस विरदो य ।
विरदो पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहुमो य ॥१॥
उवसंत खीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य ।
चोद्दसगुणट्ठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥२॥

मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र (सम्यङ्मिथ्यात्व), अविरत सम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली ये क्रम से चौदह गुणस्थानों (भावों के क्रम) के नाम हैं। चौदह गुणस्थान के अन्त में आत्मा सिद्ध (परमात्मा) हो जाता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होइ ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं पि रसं जहा जरिदो ॥३॥

मिथ्यात्व का अनुभव करते हुए जीव की दृष्टि विपरीत हो जाती है। उसे धर्म (आत्मस्वभाव की ओर झुकना) अच्छा नहीं लगता जैसे बुखार वाले आदमी को मीठा रस।

सासादन गुणस्थान

सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभावसमभिमुहो ।
णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो ॥४॥

---

(१) पंच सं० १-४ (२) पंच सं० १-५ (३) पंच सं० १-६ (४) पंच सं० १-९

सम्यक्त्व रूपी रत्न पर्वत के शिखर से (गिरकर) जो मिथ्यात्व की ओर आरहा है, जिसके सम्यक्त्व का विनाश हो गया है वह सासादन (सम्यक्त्व की आसादना-विराधना सहित) गुणस्थान वाला जीव है।

सम्यङ्मिथ्यात्व गुणस्थान

दहिगुडमिव वा मिस्सं पिहुभावं णेव कारिदुं सक्कं ।
एवं मिस्सय भावो सम्मामिच्छोत्ति णायव्वो ॥५॥

मिले हुए दही और गुड़ की तरह जिसका पृथक स्वभाव नहीं वतलाया जा सकता ऐसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप मिले हुए परिणाम वाला सम्यङ् मिथ्यात्व नाम का तीसरा गुणस्थान है।

अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान

णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि ।
जो सद्दहइ जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥६॥

जो न तो इंद्रियों के विपयों से विरक्त है और न त्रस तथा स्थावर जीवों की हिंसा से किन्तु जो जिन प्रतिपादित तत्त्व पर श्रद्धा करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि (चौथे गुणस्थान वाला) जीव है।

देशविरत गुणस्थान

जो तसवहाउ विरदो णो विरओ अक्खथावरवहाओ ।
पडिसमयं सो जीवो विरयाविरओ जिणेक्कमई ॥७॥

जो त्रस (दो इन्द्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और पांच इंद्रिय वाले) जीवों की हिंसा से विरक्त है किन्तु जो स्थावर (वनस्पति आदि एक इन्द्रिय वाले जीव) जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है और न इंद्रियों के विपयों से विरक्त है वह जिनेन्द्र में श्रद्धा रखने वाला जीव एक ही समय में विरता-विरत कहलाता है।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान

वत्तावत्तपमाए जो वसइ पमत्तसंजओहोइ ।
सयलगुण-सील-कलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥८॥

---

(५) पंच सं० १-१० (६) पंच सं० १-११ (७) पंच सं० १-१३
(८) पंच सं० १-१४

जिसका व्यक्त (अनुभव में आने वाला) और अव्यक्त (अनुभव में नहीं आने वाला) प्रमाद नष्ट नहीं हुआ है और इसीलिये जिसका आचरण चित्रल (दोष मिश्रित) है और जो सम्पूर्ण मूलगुण और शील-उत्तरगुणों (बाईस परिषह और बारह तप) सहित है वह प्रमत्तसंयत (जो पूर्ण संयमी है फिर भी जिसके स्वरूप की असावधानता नष्ट नहीं हुई है) छठे गुणस्थान वाला श्रमण है।

अप्रमत्तसंयत

णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो सो ॥९॥

जिसके संपूर्ण प्रमाद (स्वरूप की असावधानताएं) नष्ट होगई हैं जो अहिंसादि पंच महाव्रत, श्रमणों के अट्ठाईस मूलगुण और उत्तरगुणों की माला से विभूषित है, तथा जिसने अभी न चारित्र मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों (कर्मभेद) का उपशम करना शुरू किया है और न क्षय करना; फिर भी जो ध्यान में लीन है वह अप्रमत्तसंयत (प्रमादहीन श्रमण) सातवें गुणस्थान वाला आत्मा है।

अपूर्वकरण

एयम्मि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्ठिएहिं जीवेहिं ।
पुव्वमपत्ता जम्हा होंति अपुव्वा हु परिणामा ॥१०॥

इस गुणस्थान में विभिन्न समय स्थित जीवों के परिणाम (भाव) ऐसे होते हैं जो पहले प्राप्त नहीं हुए इसीलिए इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है। करण अर्थात परिणाम और अपूर्व अर्थात पहले प्राप्त नहीं हुए।

अनिवृत्तिकरण

होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेसिमेक्कपरिणामा ।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ॥११॥

यहाँ निवृत्ति शब्द का अर्थ भेद है। जिन जीवों के परिणामों में भेद नहीं होता अर्थात् जिनके प्रति-समय एक से ही परिणाम होते हैं और जिन्होंने विमलतर (अपेक्षा कृत निर्मल) ध्यान रूपी अग्नि शिखा से कर्मवन को जला डाला है वे अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान वाले जीव हैं।

---

(९) पंच सं० १-१६ (१०) पंच सं० १-१८ (११) पंच सं० १-२१

सूक्ष्मसाम्पराय

कोसुंभो जिह राओ अब्भंतरदो य सुहुमरत्तो य ।
एवं सुहुमसराओ सुहुमकसाओ त्ति णायव्वो ॥१२॥

जैसे भीतर से कौसुंभा का रस सूक्ष्म लाल होता है वैसे ही सूक्ष्म (अव्यक्त) लोभ जिसके होता है वह सूक्ष्मकषाय या सूक्ष्मसांपराय अथवा सूक्ष्म लोभ नामक दसवें गुणस्थान वाला होता है ।

उपशान्तकषाय

सकयाहलं जलं वा सरए सखाणियं व णिम्मलयं ।
सयलोवसंतमोहो उवसंतकसायओ होई ॥१३॥

निर्मली नामक औषधि सहित जल अथवा शरद ऋतु में तालाव का पानी जैसे निर्मल होता है अर्थात मल नीचे बैठ कर पानी स्वच्छ हो जाता है इसी प्रकार जिसका सम्पूर्ण मोह कर्म (चारित्र मोह) दब गया है वह उपशांत कषाय (ग्यारहवें गुणस्थानवर्त्ती आत्मा) कहलाता है ।

क्षीणकषाय

णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदयसमचित्तो ।
खीणकसाओ भण्णई णिग्गंथो वीयराएहिं ॥१४॥
जह सुद्धफलिहभायणखित्तं णीरं खु णिम्मलं सुद्धं ।
तह णिम्मलपरिणामो खीणकसाओ मुणेयव्वो ॥१५॥

जिसका संपूर्ण मोहनीय कर्म नष्ट होगया है, स्फटिक के निर्मल भाजन में रक्खे हुए जल के समान जिसका चित्त शुद्ध है और जो बाह्य-अभ्यंतर २४ प्रकार के परिग्रह रहित है वह योगी वीतरागों (तीर्थंकरों) के द्वारा क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान को धारण करने वाला कहा गया है ।

सयोगकेवली

केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासिअण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गमपाविय परमप्पववएसो ॥१६॥

(१२) पंच सं० १-२२ (१३) पंच सं० १-२४ (१४) पंच सं० १-२५
(१५) पंच सं० १-२६ (१६) पंच सं १-२७

मिथ्यात्व से उत्पन्न होने वाले मोह की अपेक्षा धतूरे से उत्पन्न होने वाला मोह अच्छा होता है, क्योंकि मिथ्यात्व जन्म मरण की परंपरा को बढ़ाता है, किन्तु धतूरे से उत्पन्न होने वाला मोह ऐसा नहीं करता।

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होइ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं पि रसं जहा जरिदो ॥५॥

मिथ्यात्व का अनुभव करता हुआ जीव विपरीत श्रद्धानी हो जाता है। जैसे ज्वर वाले रोगी को मधुर रस अच्छा नहीं लगता वैसे ही मिथ्यादृष्टि को धर्म अच्छा नहीं लगता।

मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥६॥
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहंपि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणोवि मज्झं एयस्स अहंपि होस्सामि ॥७॥
एयं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥८॥

जो मनुष्य सचित्त (स्त्री पुत्रादिक) अचित्त (धनादिक) और मिश्र (ग्राम नगरादिक) पर द्रव्य को मैं यह हूँ और यह मेरा स्वरूप है, मैं इसका हूँ और यह मेरा है। यह पहले मेरा था और मैं भी पहले इसका था। यह फिर भी मेरा होगा और मैं भी इसका होउंगा इत्यादिक अयथार्थ आत्म विकल्प मूढात्मा करता है, किन्तु सत्यार्थ को जानता हुआ असंमूढ आत्मा इन विकल्पों को नहीं करता।

जीवो अणादिकालं पयत्तामिच्छत्तभाविदो संतो।
ण रमिज्ज हु सम्मत्ते एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ॥९॥

यह जीव अनादि काल से आवृत मिथ्यात्व की वासना से वासित हुआ सम्यक्त्व में रमण नहीं करता, इसलिये इसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

---

(५) पंच, सं. १-६ (६) समय० २० (७) समय० २१ (८) समय० २२
(९) भग० आ० ७२८

अध्याय ५

सम्यग्दर्शन

[इस अध्याय में सम्यग्दर्शन का वर्णन है। सम्यग्दर्शन का अर्थ सच्ची दृष्टि अथवा सच्ची श्रद्धा है। पदार्थों के स्वरूप को अनाग्रह भाव से जानने की श्रद्धा ही सच्ची दृष्टि कहलाती है। इस दृष्टि से विपरीत दृष्टि मिथ्या होती है। मिथ्यात्व आत्मा की सबसे बड़ी बुराई और सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्त्व सबसे बड़ी भलाई है। इस अध्याय में इन दोनों से संबंधित गाथायें हैं।]

सम्यक्त्व विरोधी मिथ्यात्व

संसारमूलहेदु मिच्छत्तं सव्वधा विवज्जेहि ।
बुद्धिं गुणण्णिदं पि हु मिच्छत्तं मोहिदं कुणदि ॥१॥

हे जीव ! संसार के मूल कारण मिथ्यात्व को सर्वदा छोड़ दे। निश्चय करके मिथ्यात्व ही गुणान्वित बुद्धि को भी मोहित कर देता है।

मिच्छत्तसल्लविद्धा तिव्वाओ वेदणाओ वेदंति ।
विसलित्तकंडविद्धा जह पुरिसा णिप्पडीयारा ॥२॥

मिथ्यात्व रूपी शल्य से विद्ध प्राणी तीव्र वेदनाओं का अनुभव करते हैं। ठीक ऐसे ही जैसे विषलिप्त बाण से विद्ध मनुष्य प्रतिकार रहित होकर तीव्र वेदना को प्राप्त होते हैं।

अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं करंति एयभवे ।
मिच्छत्तं पुण दोसं करेदि भवकोडिकोडीसु ॥३॥

आग, विष, काला सांप आदि तो एक भव में ही दोष करते हैं किन्तु मिथ्यात्व तो कोटा कोटी जन्मों तक दोष उत्पन्न करता रहता है।

मिच्छत्तमोहणादो धत्तूरयमोहणं वरं होदि ।
वढ्ढेदि जम्ममरणं दंसणमोहो दु ण दु इदरं ॥४॥

---

(१) भग० आ० ७२४ (२) भग० आ० ७३१ (३) भग० आ० ७३०
(४) भग० आ० ७२७

रत्न को धारण करो। यह सम्यग्दर्शन गुणरूपी रत्नों में सर्वश्रेष्ठ है और मोक्ष का प्रथम सोपान है।

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं ।
दंसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं ॥१६॥

जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है वही शुद्ध है। दर्शन से शुद्ध मनुष्य ही निर्वाण को प्राप्त हो सकता है। जो पुरुष दर्शन (श्रद्धा) विहीन है वह इच्छित लाभ को प्राप्त नहीं हो सकता।

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं ।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥१७॥

ज्ञान मनुष्य का सार है। सम्यक्त्व भी मनुष्य का सार है। सम्यक्त्व से ही चारित्र की प्राप्ति होती है और चारित्र से निर्वाण की।

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं ।
सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ॥१८॥

विशुद्ध सम्यक्त्व से इस जीव को कल्याणों की परम्परा प्राप्त होती है। सम्यग्दर्शन रूपी रत्न सुर एवं असुरों के लोक में पूजा जाता है।

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स ।
कम्मं वालुयवरणं वंधुच्चिय णासए तस्स ॥१९॥

सम्यक्त्व रूप जल का प्रवाह जिसके हृदय में नित्य प्रवृत्त होता है उसके पहले का बंधा हुआ कर्म आवरण बालु की तरह नष्ट हो जाता है।

सम्मत्तविरहिया णं सुठ्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥२०॥

सम्यक्त्व रहित मनुष्य अच्छी तरह उग्र तप करते हुए भी सहस्र करोड़ वर्षों तक बोधि (रत्नत्रय) को नहीं पा सकता।

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता वहुविहाइं सत्थाइं ।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥२१॥

---

(१७) दर्शन पा० ३१ (१८) दर्शन पा० ३३ (१९) दर्शन पा० ७
(२०) दर्शन पा० ५ (२१) दर्शन पा० ४

सम्यक्त्व की महत्ता व स्वरूप

रयणाणमहारयणं सव्वजोयाण उत्तमं जोयं ।
रिद्धीण महारिद्धी सम्मत्तं सव्वसिद्धियरं ॥१०॥

रत्नों में महारत्न, सारे योगों में उत्तम योग और ऋद्धियों में महाऋद्धि तथा सम्पूर्ण सिद्धियों का कारण सम्यक्त्व है।

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहाराणिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥११॥

जिनवर ने कहा है कि व्यवहार नय से जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, किन्तु निश्चय नय से आत्मा ही सम्यक्त्व है।

जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं ।
लोयाण पण्हवसदो ववहारपवत्तणट्ठं च ॥१२॥
जो आयरेण मण्णदि जीवाजीवादिणवविहं अत्थं ।
सुदणाणेण णयेहिं य सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो ॥१३॥

जो लोगों के प्रश्न के वश से अथवा व्यवहार की प्रवृत्ति के लिए सात भंगों के द्वारा नियम से अर्थात निश्चय से अनेकान्त तत्त्व का श्रद्धान करता है और जो आदर पूर्वक जीव अजीव आदि नो पदार्थों को श्रुतज्ञान और नयों के द्वारा जानता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।

सम्माइट्ठी जीवो दुग्गइहेदुं ण बंधदे कम्मं ।
जं बहुभवेसु बद्धं दुक्कम्मं तं पि णासेदि ॥१४॥

सम्यग्दृष्टि जीव जो कर्म दुर्गति का कारण है उसको कभी नहीं बांधता बल्कि जो अनेक जन्मों से बंधा हुआ दुष्कर्म है उसका भी नाश कर देता है।

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण ।
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढममोक्खस्स ॥१५॥

इस प्रकार गुण और दोष को जान कर भाव पूर्वक सम्यग्दर्शन रूपी

---

(१०) कार्तिके० ३२५ (११) दर्शन पा० २० (१२) कार्तिके० ३११
(१३) कार्तिके० ३१२ (१४) कार्तिके० ३२७ (१५) भाव पा० १४५

मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुक्खणासयरे ।
सम्मत्तं खु पदिट्ठा णाणचरणवीरियतवाणं ॥२७॥

सारे दुःखों के नाश करने वाले सम्यक्त्व की प्राप्ति में, तू प्रमाद मत कर। ज्ञान, चरण, वीर्य और तप इनकी प्रतिष्ठा सम्यक्त्व ही है।

सम्यक्त्व के आठ अंग

णिस्संकिय णिक्खंकिय णिव्विदिगिंछा अमूढ़दिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छलपहावणा य ते अट्ठ ॥२८॥

सम्यक्त्व के आठ अंग हैं:—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

सम्मद्दिट्ठीजीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥२९॥

सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं और इसीलिए वे निर्भय भी होते हैं; क्योंकि उनके सात प्रकार के भय नहीं होते, इसीलिये उन्हें निःशंक कहते हैं।

[इह लोक, परलोक, अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक इस प्रकार सात भय होते हैं। लोक में अनिष्टार्थ के संयोग और इष्टार्थ के वियोग से सदा डरते रहना लोक भय है। मृत्यु के बाद परलोक में नरक-गति, तिर्यंचगति, आदि के दुःखों से डरना परलोक भय है। मैं अकेला हूँ, मुझे कोई पूछने वाला नहीं है, मेरी क्या दशा होगी इस प्रकार का विचार अत्राण भय है। मेरे धन आदि को चोर वगैरह हरण न करले इस प्रकार के भय को अगुप्ति भय कहते हैं अथवा संयम नष्ट होजाने का भय अगुप्ति भय कहलाता है; क्योंकि संयम से ही आत्मा की गुप्ति (रक्षा) होती है। मृत्यु से डरना मृत्यु भय है। रोग या शारीरिक वेदनाओं से डरना वेदना भय है। बाढ़ आना, बिजली गिरना, भूकंप आना आदि आकस्मिक दुर्घटनाओं से डरना आकस्मिक भय है।]

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्खंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥३०॥

---

(२७) भग० आ० ७३५ (२८) चारित्र पा० ७ (२९) समय० २२८
(३०) समय० २३०

जो सम्यक्त्व रत्न से भ्रष्ट हैं वे अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते हुए भी आराधना से रहित होकर वहां के वहां ही भ्रमते रहते हैं।

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी ।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥२२॥

सम्यक्त्व से ज्ञान और ज्ञान से सारे पदार्थों की उपलब्धि होती है। जिसे पदार्थों की उपलब्धि (अनुभूति) हो गई है वही श्रेय और अश्रेय को जानता है।

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सीलसीलवंतो वि ।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं ॥२३॥

श्रेय और अश्रेय को जानने वाला अपने दुःशील का नाश कर देता है। फिर वह शीलवान पुरुष शील के फल से अभ्युदय को प्राप्त होता है और इसके बाद निर्वाण को।

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण ।
चोण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो ॥२४॥

सम्यक्त्व सहित ज्ञान और दर्शन तथा तप और चारित्र के होने पर चारों के समायोग से जीव अवश्य सिद्ध होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है।

सम्मत्तस्स य लंभे तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लंभो ।
सम्मद्दंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥२५॥

सम्यक्त्व की प्राप्ति और त्रैलोक्य की प्राप्ति, इन दोनों में त्रैलोक्य की प्राप्ति की अपेक्षा सम्यक्त्व की प्राप्ति श्रेष्ठ है।

णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं ।
तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरणवीरियतवाणं ॥२६॥

नगर के लिये द्वार का, मुंह के लिये चक्षु का और वृक्ष के लिये मूल का जो महत्त्व है वही महत्त्व ज्ञान, दर्शन, वीर्य और तप के लिये सम्यक्त्व का है।

---

(२२) दर्शन पा० १५ (२३) दर्शन पा० १६ (२४) दर्शन पा० ३२
(२५) भग० आ० ७४२ (२६) भग० आ० ७३६

जो दसभेयं धम्मं भव्वजणाणं पयासदे विमलं ।
अप्पाणंपि पयासदि णाणेण पहावणा तस्स ॥३६॥

जो आत्मा भव्य जीवों के लिए दसप्रकार के निर्मल धर्म का प्रकाश करता है और भेद ज्ञान से अपने आप को अनुभव करता है वह सम्यग्दर्शन का प्रभावना अंग है।

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वाणं ॥३७॥

जिन शासन में मार्ग और मार्ग का फल ये दो बातें कही गई हैं। इनमें मार्ग सम्यक्त्व है और मार्ग का फल निर्वाण है।

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं ।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥३८॥

जो कर सकते हो वह करो और जो नहीं कर सकते हो उस पर श्रद्धा रखो। भगवान ने कहा है कि श्रद्धा करने वाले के ही सम्यक्त्व होता है।

---

(३६) कार्तिके० ४२१ (३७) मूला० २०२ (३८) दर्शन पा० २२

जो कर्मों के फल और सारे वस्तु स्वभावों (सुवर्ण आदि) में आकांक्षा नहीं करता वह निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि आत्मा है।

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥३१॥

जो आत्मा पदार्थ के सभी स्वभावों में घृणा नहीं करता वह निर्विचिकित्सित अंग का पालन करने वाला सम्यग्दृष्टि है।

भयलज्जालाहादो हिंसारंभो ण मण्णदे धम्मो ।
जो जिणवयणे लीणो अमूढ़दिट्ठी हवे सो हु ॥३२॥

भय, लज्जा और लाभ की आशा से जो कभी हिंसा में धर्म नहीं मानता वह भगवान के वचन में लीन अमूढदृष्टि आत्मा है।

जो परदोसं गोवदि णियसुकयं णो पयासदे लोए ।
भवियव्वभावणरओ उवगूहणकारओ सो हु ॥३३॥

जो होना होता है वह निश्चय से होगा ही ऐसा खयाल कर जो दूसरे के दोषों को छिपाता है और संसार में अपने सुकृत (गुण) को प्रकट नहीं करता वह आत्मा उपगूहन अंग का धारण करने वाला है।

उम्मग्गं गच्छंतं सगंपि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥३४॥

उन्मार्ग में जाते हुए दूसरों और अपने आत्मा को भी जो ठीक मार्ग में स्थापित करता है वह स्थितिकरण गुण का धारण करने वाला सम्यग्दृष्टि है।

जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए ।
पियवयणं जंपंतो वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ॥३५॥

जो सम्यग्दृष्टि जीव धर्मात्माओं में भक्ति रखता हुआ प्रिय वचन पूर्वक परम श्रद्धा से उनके आचरण का अनुसरण करता है उस भव्य जीव के वात्सल्य अंग होता है।

---

(३१) समय० २३१ (३२) कार्तिके० ४१७ (३३) कार्तिके० ४१८
(३४) समय० २३४ (३५) कार्तिके० ४२०

आत्म भावना रहित मनुष्यों का धनधान्यादि बाह्य परिग्रहों का त्याग, गिरि, नदी और गुफाओं आदि में रहना एवं सारा ज्ञान तथा सारा अध्ययन व्यर्थ है।

भावो य पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं ।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति ॥५॥

भाव ही मुख्य भेप है। द्रव्य लिंग (वाह्य भेप) परमार्थ नहीं है। जिनेन्द्र भगवान जानते हैं अर्थात कहते हैं कि भाव ही गुण और दोषों का कारण है।

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण ।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥६॥

भाव होने पर ही भेप धारण करना सफल हो सकता है। द्रव्यलिंग (वाह्य भेष) मात्र धारण करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। इसलिए भाव शुद्ध उत्पन्न करो। वाह्य भेप से क्या हो सकता है ?

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती ।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥७॥

धर्म से ही भेष की सार्थकता है। बाह्य भेप से धर्म की प्राप्ति कभी नहीं होती। तुम भाव रूप धर्म को जानो, बाह्य भेष से क्या करना है ?

भावरहिओ न सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मंतराइं बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥८॥

भाव रहित मनुष्य कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। भले ही वह नग्न मुद्रा धारण कर, अपने दोनों हाथों को लटका कर कोडाकोडी (एक करोड एक करोड से गुणित) जन्मों तक अनेक प्रकार से तप करता रहे।

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं ।
इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥९॥

जिनेन्द्र देव ने भाव रहित नग्नत्व को अकार्य (व्यर्थ) बतलाया है। ऐसा समझ कर हे धीर ! तू आत्म भावना में तत्पर हो।

(५) भाव पा० २ (६) भाव पा० ४८ (७) लिंग पा० २ (८) भाव पा० ४
(९) भाव पा० ५५

अध्याय ६

भाव

[इस अध्याय में आत्मा के भावों का वर्णन है। भाव ही बंधन और मुक्ति के कारण हैं। बाह्य भेष का कोई महत्व नहीं है। उसकी सार्थकता तो तभी है जब अभ्यंतर शुद्ध हो। भावों के तीन भेद हैं—पुण्य, अपुण्य और अपुण्यापुण्य। इन्हीं से संबंधित गाथाओं का यहां संग्रह किया गया है।]

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण ।
पंथिय सिवउरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥१॥

हे शिवपुरी के राहगीर! तू निर्वाण की प्राप्ति में भाव को ही मुख्य समझ; क्योंकि आत्मस्वरूप की भावना से ही मुक्ति की प्राप्ति होगी। भावरहित भेष धारण करने से क्या लाभ है? जिनेन्द्र ने भाव को ही वस्तुतः शिवपुरी का मार्ग बतलाया है।

पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण ।
भावो कारणभूदो सायारणयार भूदाणं ॥२॥

भाव रहित होकर पढ़ने अथवा सुनने से क्या लाभ है? चाहे गृहस्थ हो और चाहे गृहत्यागी, सभी का कारण भाव ही है।

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥३॥

तुषमाष को घोखते (रटते) हुए अर्थात जैसे तुष से उड़द की दाल भिन्न है इसी तरह शरीर से आत्मा भिन्न है ऐसा रटते हुए शिवभूति नामके भावविशुद्ध महात्मा किंचित् मात्र शास्त्र ज्ञान न होते हुए भी केवल ज्ञानी हो गये इसमें सन्देह करने की जरूरत नहीं है।

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिकंदराइ आवासो ।
सयलो णाणज्झयणो निरत्थओ भावरहियाणं ॥४॥

---

(१) भाव पा० ६ (२) भाव पा० ६६ (३) भाव पा० ५३ (४) भाव पा० ८७

जध तंडुलस्स कोण्डयसोधी सतुसस्स तीरदि ण कादुं ।
तह जीवस्स ण सक्का लिस्सासोधी ससंगस्स ॥१५॥

जैसे तुष सहित तंदुल (चावल) की कण शुद्धि नहीं की जा सकती इसी तरह परिग्रह सहित जीव की भाव शुद्धि कभी नहीं हो सकती ।

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धनिम्मलं चेव ।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छह सासयं सुक्खं ॥१६॥

यदि शीघ्र चार गतियों को छोड़ कर शाश्वत (नित्य) सुख चाहते हो तो भाव शुद्ध एवं पूर्णतः निर्मल आत्मा का अभ्यास करो ।

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो ।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥१७॥

जो जीव अपने चैतन्य स्वभाव की भावना करता हुआ अपने स्वभाव में संयुक्त हो जाता है वह जरामरण का विनाश कर निश्चय ही निर्वाण को प्राप्त हो जाता है ।

---

(१५) भग० आ० १९१७ (१६) भाव पा० ६० (१७) भाव पा० ६१

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥१०॥

वह साधु भाव लिंगी है जो देहादिकों की आसक्ति से रहित है और मानादि कषायों से पूर्णतः परित्यक्त है तथा जिसका आत्मा अपने आप में लवलीन है।

देहादिचत्तसङ्गो माणकसाएण कलुसिओ धीर ।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ॥११॥

देहादिक संपूर्ण परिग्रह की आसक्ति से रहित किन्तु मान कषाय से कलुषित बाहुबलि (भगवान आदीश्वर के पुत्र भरत के छोटे भाई) कितनेक समय (एक वर्ष) तक आतापन योग (खडे होकर तपस्या करना) से खडे रहे अर्थात ऐसी घोर तपस्या करते हुए भी उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई।

भावरहिएण सउरिस अणाइकालं अणंतसंसारे ।
गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरनिग्गंथरूवाइं ॥१२॥

हे सत् पुरुष आत्म स्वरूप की भावना रहित तुमने इस अनंत संसार में अनादि काल से अनेक प्रकार के बाह्य निर्ग्रन्थ रूप (धन, धान्य, वस्त्र आदि बाह्य परिग्रहों का त्याग) ग्रहण करके छोड़ दिये।

भावविसुद्धिनिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भन्तरगंथजुत्तस्स ॥१३॥

भावों की विशुद्धि के लिए बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है, किन्तु जो अभ्यतर परिग्रह सहित है उसका बाह्य परिग्रह का त्याग व्यर्थ है।

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण ।
इय भाविऊण उज्झसु गंथं अब्भंतरं धीर ॥१४॥

जो अभ्यंतर परिग्रह रूप (राग, द्वेष और मोह) भावों से मुक्त है वही वास्तव में मुक्त है केवल बांधव आदि को छोड़ने मात्र से कोई मुक्त नहीं कहलाता ऐसा जानकर हे धीर ! अभ्यंतर परिग्रह का त्याग कर।

(१०) भाव पा० ५६ (११) भाव पा० ४४ (१२) भाव पा० ७
(१३) भाव पा० ३ (१४) भाव पा० ४३

इसलिए जैसे दुष्कर अथवा दुःखजनक मार्ग में गिरा देने वाले घोड़े को वश में करना मुश्किल है और जैसे वीलण नामक मत्स्य (अत्यंत कोमल शरीर होने के कारण) को पकड़ना कठिन है वैसे ही मन को वश में करना भी आसान नहीं है।

मणणरवइए मरणे मरंति सेणाइं इंदियमयाइं।
ताणं मरणेण पुणो मरंति णिस्सेस कम्माइं ॥५॥
तेसिं मरणे मुक्खो मुक्खे पावेइ सासयं सुक्खं।
इंदिय विषयविमुक्कं तम्हा मणमारणं कुणइ ॥६॥

मन रूपी राजा के मरने पर इंद्रिय रूपी सेनाएं स्वयं ही मर जाती हैं। उनके मर जाने पर संपूर्ण कर्म (मोह एवं राग द्वेष आदि) मर जाते हैं तथा कर्मों के मरने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है और तब इंद्रियों के विषयों से रहित स्थायी सुख की उपलब्धि होती है इसलिए मन को मारो।

जह जह विसएसु रई पसमइ पुरिसस्स णाणमासिज्ज।
तह तह मणस्स पसरो भज्जइ आलंबणारहिओ ॥७॥

आत्म ज्ञान प्राप्त होने से मनुष्य की विषयों में रति जैसे २ शांत होती है वैसे २ आलंबन रहित होने के कारण मन का प्रसार नष्ट होता जाता है।

जइ इच्छहि कम्मखयं सुण्णं धारेहि णियमणो झत्ति।
सुण्णीकयम्मि चित्ते णूणं अप्पा पयासेइ ॥८॥

यदि तुम कर्मों का क्षय करना चाहते हो तो तत्काल ही अपने मन को शून्य बनाओ। चित्त को शून्य कर देने पर निश्चय ही आत्मा का प्रकाश प्रकट हो जाता है।

मणमित्ते वावारे णट्ठुप्पण्णे य वे गुणौ हुंति।
णट्ठे आसवरोहो उप्पण्णे कम्मबंधो य ॥९॥

मन के व्यापार नष्ट होने और उत्पन्न होने पर दो गुण उत्पन्न होते हैं:—मन के व्यापार नष्ट होने पर कर्मों का आस्रव रुकता है और उसके उत्पन्न होने पर कर्मों का बंध होता है।

---

(५) आराधना० ६० (६) आराधना० ६१ (७) आराधना० ६६
(८) आराधना० ७४ (९) आराधना० ७०

अध्याय ७

मन इन्द्रिय कषाय विजय

[मन एवं इन्द्रिय तथा कषाय (क्रोधादि) के अधीन होना आत्मा का सबसे बड़ा अहित है। जो इन पर विजय पा लेता है वह चाहे गृहस्थ हो और चाहे श्रमण; वास्तव में महान है। इस अध्याय में इन तीनों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रेरणा देने वाली गाथाओं का संचयन है।]

मणणरवइ सुहुभुंजइ अमरासुरखगणरिंदसंजुत्तं ।
णिमिसेणेक्केण जयं तस्सत्थि ण पडिभडो कोइ ॥१॥

मन रूपी राजा, सुर असुर, विद्याधर और मनुष्यों के इंद्रों से संयुक्त इस संपूर्ण जगत को एक निमेप (आंखों की टिमकार) मात्र में भोग लेता है। इस संबंध में इसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है।

ण च एदि विणिमस्सरिदुं मणहत्थी झाणवारिबंधणीदो ।
बद्धो तह य पयंडो विरायरज्जूहिं धीरेहिं ॥२॥

जैसे बंधनशाला में बंधा हुआ हाथी बाहर नहीं निकल सकता वैसे ही विराग रूपी रस्सियों से धीर पुरुषों के द्वारा वश में किया हुआ मन रूपी हस्ती चाहे वह कितना ही प्रचण्ड क्यों न हो बाहर नहीं निकल सकता।

जस्स य कदेण जीवा संसारमणंतयं परिभमंति ।
भीमासुहगदिबहुलं दुक्खसहस्साणि पावंता ॥३॥

मन ऐसा है कि जिसकी चेष्टा से ये संसारी जीव हजारों दुःखों को पाते हुए भयंकर एवं अशुभ गतियों से भरपूर इस अनंत संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

तत्तो दुक्खे पंथे पाडेदुं दुद्धओ जहा अस्सो ।
वीलणमच्छोव्व मणो णिग्घेत्तुं दुक्करो धणिदं ॥४॥

---

(१) आराधना० ५६ (२) मूला० ८७६ (३) भग० आ० १३७
(४) भग० आ० १३६

इसलिए इधर उधर उत्पथगामी मन रूपी मर्कट (बंदर) को जिनेन्द्र के उपदेश में सदा के लिए लगा देना चाहिए जिससे वह किसी भी दोष को उत्पन्न न करे।

भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई ।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थो ॥१६॥

जो भाव से विरत है वास्तव में वही विरत है। द्रव्य विरत (बाह्य विरक्त) की सुगति कभी नहीं होती। इसलिए विषय वन के रमण करने में लंपट जो मन रूपी हाथी है उसको वश में करना चाहिए।

अणिहुदमणसा इंदियसप्पाणि णिगेण्हिदुं ण तीरंति ।
विज्जामंतोसधहीणेण व आसीविसा सप्पा ॥१७॥

असंवृत मन वाले मनुष्य के द्वारा इन्द्रिय सर्प वश में नहीं किये जा सकते जैसे विद्या, मंत्र और औषधि हीन मनुष्य के द्वारा आशीविष जाति के सांप।

मणकरहो धावंतो णाणवरत्ताइ जेहिं ण हु बद्धो ।
ते पुरिसा संसारे हिंडंति दुहाइ भुंजता ॥१८॥

जिन मनुष्यों ने ज्ञान रूपी लगाम से मन रूपी ऊंट को नहीं बांधा वे मनुष्य दुःखों को भोगते हुए निश्चय से ही संसार में घूमते रहते हैं।

सिक्खह मणवसियरणं सिक्खोदूएण जेण मणुआणं ।
णासंति रायदोसे तेसिं णासे समो परमो ॥१९॥
उवसमवंतो जीवो मणस्स सक्केइ निग्गहं काऊं ।
निग्गहिए मणपसरे, अप्पा परमप्पओ हवइ ॥२०॥

मन को वश में करना सीखो, क्योंकि उसके शिक्षित (वश) होने से मनुष्य के रागद्वेष नष्ट होजाते हैं और राग द्वेष के नष्ट होने से उसको परम शांति प्राप्त होती है। उपशम को प्राप्त जीव ही मन के निग्रह करने में समर्थ होता है और मन के निग्रह होजाने पर आत्मा परमात्मा होजाता है।

रायद्दोसादीहिं य डहुलिज्जई णेव जस्स मणसलिलं ।
सो णियतच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ॥२१॥

---

(१६) मूला० ९९५ (१७) भग० आ० १८३८ (१८) आराधना० ६२
(१९) आराधना० ६४ (२०) आराधना० ६५ (२१) तत्व० ४०

णट्ठे मणवावारे विसएसु ण जंति इंदिया सव्वे ।
छिण्णे तरुस्स मूले कत्तो पुण पल्लवा हुंति ॥१०॥

मन का व्यापार नष्ट हो जाने पर कोई भी इंद्रियाँ विषयों में नहीं जातीं। वृक्ष का मूल काट देने पर उस से पत्ते कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?

णिल्लूरहमणवच्छो खंडह साहाउ रायदोसा जे ।
अहलो करेह पच्छा मा सिंचह मोहसलिलेण ॥११॥

मन रूपी वृक्ष को निर्लूम (विस्तार रहित) करदो, उसकी राग और द्वेष रूप जो दो शाखायें हैं उन्हें काट डालो, उसको फलहीन वनादो और इसके वाद उसे मोहरूपी जल से कभी मत सींचो।

णाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं ।
णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ॥१२॥

ज्ञानोपयोग रहित मनुष्य के द्वारा चित्त का निग्रह नहीं किया जा सकता। उन्मत्त चित्तरूपी हाथी के लिए ज्ञान अंकुश के समान है।

विज्जा जहा पिसायं सुट्ठुपउत्ता करेदि पुरिसवसं ।
णाणं हिदयपिसायं सुट्ठु पउत्तं करेदि पुरिसवसं ॥१३॥

जैसे अच्छी तरह प्रयुक्त विद्या पिशाच को मनुष्य के अधीन बना देती है वैसे ही अच्छी तरह प्रयुक्त ज्ञान मन रूपी पिशाच को मनुष्य के वश में कर देता है।

आरण्णओ वि मत्तो हत्थी णियमिज्जदे वरत्ताए ।
जह तह णियमिज्जदि सो णाणवरत्ताए मणहत्थी ॥१४॥

जैसे आरण्यक (जंगली) उन्मत्त हाथी वरत्रा (हाथी को बांधने की सांकल) से वश में कर लिया जाता है वैसे मन रूपी हाथी ज्ञान रूपी वरत्रा से वश में कर लिया जाता है।

तह्मा सो उड्डहणो मणमक्कडओ जिणोवएसेण ।
रामेदव्वो णियदं तो सो दोसं ण काहिदि से ॥१५॥

---

(१०) आराधना० ९९ (११) आराधना० ९८ (१२) भग० आ० ७६०
(१३) भग० आ० ७६१ (१४) भग० आ० ७६३ (१५) भग० आ० ७६५

विसयाडवीए उम्मग्गविहरिदा सुचिरमिंदियस्सेहिं ।
जिणदिट्ठणिव्वुदिपहं धण्णा ओदरिय गच्छंति ॥२७॥

विषय रूपी जंगल में इंद्रियरूपी घोड़ों के द्वारा बहुत समय तक कुमार्ग में भ्रमाये गये वे पुरुष धन्य हैं जो इन घोड़ों से उतर कर जिनेन्द्र के द्वारा निर्दिष्ट निर्वाण के मार्ग की ओर गमन करते हैं।

अप्पाणं जे णिंदइ गुणवंताणं करेदि बहुमाणं ।
मणइंदियाण विजई स सरूवपरायणो होदि ॥२८॥

जो अपनी निंदा और गुणवानों का बहुत सन्मान करता है तथा जो मन और इन्द्रियों को जीतता है वही अपने स्वरूप में तत्पर होता है।

क्रोध

भिउडीतिवलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो ।
कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि ॥२९॥

क्रोध से मनुष्य की भोहें चढ़ जाती हैं, माथे पर त्रिवली (तीन लकीर होजाना) पड़ जाती हैं, आँखें निश्चल, अत्यन्त रक्त और रूखी हो जाती हैं और वह राक्षस की तरह मनुष्यों में भयंकर मनुष्य बन जाता है।

णासेदूण कसायं अग्गी णासदि सयं जधा पच्छा ।
णासेदूणं तध णरं णिरासवो णस्सदे कोधो ॥३०॥

जलाने योग्य चीजों को जला कर जैसे अग्नि स्वयं ही नष्ट हो जाती है वैसे ही क्रोध मनुष्य को नष्ट कर (फिर कोई उसका आधार न रहने से) स्वयं ही नष्ट हो जाता है।

कोधो सत्तुगुणकरो णीयाणं अप्पणो य मण्णुकरो ।
परिभवकरो सवासे रोसो णासेदि णरमवसं ॥३१॥

क्रोध शत्रु का काम करने वाला अथवा वह शत्रु को फायदा पहुँचाने वाला होता है और अपने बांधवों तथा अपने लिए वह शोक का कारण है एवं जिस मनुष्य या जीव में वह रहता है उसी के पराभव का हेतु होता है। क्रोध अपने अधीन मनुष्य का नाश कर डालता है।

---

(२७) भग० आ० १८६१ (२८) कार्तिके० ११२ (२९) भग० आ० १३६१
(३०) भग० आ० १३६४ (३१) भग० आ० १३६५

जिसका मन रूपी जल राग द्वेषादि विकारों से कभी क्षुब्ध नहीं होता वही निज तत्त्व को देखता है। इससे विपरीत प्रवृत्ति वाला आत्मा कभी आत्म तत्त्व को नहीं देख सकता।

सरसलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियंपि जह रयणं।
मणसलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले ॥२२॥

तालाब का जल स्थिर होजाने पर उसके जल में गिरा हुआ भी रत्न जैसे दीखने लगता है वैसे ही मन रूपी जल के स्थिर एवं निर्मल होजाने पर उसमें आत्मा दीखने लगता है।

उव्वसिए मणगेहे णट्ठे णीसेसकरणवावारे ।
विप्फुरिए ससहावे अप्पा परमप्पओ हवइ ॥२३॥

मन रूपी घर के उजड़ जाने एवं संपूर्ण इंद्रियों के व्यापार नष्ट होजाने और अपने आत्म स्वभाव के प्रकट हो जाने पर आत्मा परमात्मा होजाता है।

एदे इंदियतुरया पयदीदोसेण चोइया संता।
उम्मग्गं णेंति रहं करेह मणपग्गहं बलियं ॥२४॥

ये इन्द्रिय रूपी घोड़े प्रकृति दोष अर्थात् रागद्वेष से प्रेरित होकर रथ को उन्मार्ग में लेजाते हैं; इसलिए मन रूपी लगाम को मजबूत करो।

सुमरणपुंखा चिंतावेगा विसयविसलित्तरइधारा ।
मणधणुमुक्का इंदियकंडाविंधंति पुरिसमयं ॥२५॥

जिनके स्मरण रूपी पंख लगे हैं, जिनकी रतिधारा विषय रूपी विष से लिप्त है और जो मन रूपी धनुष के द्वारा छोड़े गये हैं ऐसे इंद्रिय रूपी बाण मनुष्य रूपी मृग को वींध डालते हैं।

इंदियदुद्दंतस्सा णिग्घिप्पंति दमणाणखलिणेहिं ।
उप्पहगामी णिग्घिप्पंति हु खलिणेहिं जह तुरया ॥२६॥

इन्द्रिय रूपी जो दुर्दान्त (कठिनता से वश में आने योग्य) घोड़े हैं उनका दमन तत्त्व ज्ञान रूपी लगाम से किया जाता है जैसे उत्पथगामी घोड़े लगाम से वश में किये जाते हैं।

---

(२२) तत्व० ४१ (२३) आराधना० ८५ (२४) मूला० ८७६
(२५) भग० आ० १३६६ (२६) भग० आ० १८३७

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए ।
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि ॥३७॥

निरभिमानी मनुष्य संसार में स्वजन और जन (सामान्य लोग) सभी को सदा प्रिय बना रहता है और उसे ज्ञान, यश तथा धन की प्राप्ति होती है और वही अपने कार्य को सिद्ध कर सकता है।

ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि ।
इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकल्लाणं ॥३८॥

मार्दव धर्म के प्रयोग करने पर कभी कोई नुकसान नहीं होता। विनय (अभिमान का अभाव) से निश्चित ही इस लोक और परलोक में मनुष्य संपूर्ण कल्याणों को प्राप्त होता है।

माया

पावइ दोसं मायाए महल्लं लहुसगावराधेवि ।
सच्चाण सहस्साण वि माया एक्का वि णासेदि ॥३९॥

अपना छोटा सा अपराध होने पर भी माया से मनुष्य महान दोष को प्राप्त होता है। अकेली माया ही हजारों सत्यों का नाश कर देती है।

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा ।
कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होंति ॥४०॥

जहाँ माया होती है वहाँ क्रोध, मान और लोभ भी स्वयं ही आजाते हैं। मायावी मनुष्य में क्रोध, मद और लोभ से उत्पन्न होने वाले सभी दोष मौजूद रहते हैं।

लोभ

लोभेणासाधत्तो पावइ दोसे बहुं कुणदि पावं ।
णीए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि ॥४१॥

लोभ से ग्रस्त होकर मनुष्य अनेक दोषों को प्राप्त होता है और पाप करता है। लोभाधीन मनुष्य न अपने कुटुम्ब की परवाह करता है और न अपनी।

---

(३७) भग० आ० १३७६ (३८) भग० आ० १३८० (३९) भग० आ० १३८४
(४०) भग० आ० १३८७ (४१) भग० आ० १३९६

ण गुणे पेच्छदि अववददि गुणे जंपदि अजंपिदव्वं च ।
रोसेण रुद्दहिदओ णारगसीलो णरो होदि ॥३२॥

क्रोध आने पर मनुष्य जिस पर क्रोध करता है उसके गुणों की ओर ध्यान नहीं देता, वह उसके गुणों की निंदा करने लगता है और जो कहने लायक नहीं है वह भी कह डालता है। क्रोध से मनुष्य का हृदय रौद्र बन जाता है। वह मनुष्य होने पर भी नारकी जैसा हो जाता है।

जध करिसयस्स धण्णं वरिसेण समज्जिदं खलं पत्तं ।
डहदि फुलिंगो दित्तो तध कोहग्गी समणसारं ॥३३॥

जैसे खलियान में इकट्ठे किये गये किसान के वर्षभर के सारे अनाज को एक अग्नि का कण जला देता है वैसे ही क्रोध रूपी आग श्रमणसार अर्थात् तप रूपी पुण्य को जला देती है।

जध उग्गविसो उग्गो दब्भतणंकुरहदो पकुप्पंतो ।
अचिरेण होदि अविसो तध होदि जदी वि णिस्सारो ॥३४॥

जैसे उग्र विष वाला कोई सांप डाभ के तृण से आहत होकर क्रोध करता हुआ उसे डसता है और उस पर विष उडेल कर निर्विष हो जाता है वैसे ही यति (साधक) भी दूसरे पर क्रोध करता हुआ निःसार हो जाता है अर्थात् अपने गुणों को नष्ट कर देता है।

सुट्ठु वि पियो मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण ।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ॥३५॥

क्रोध से मनुष्य का अत्यन्त प्यारा प्रेमी भी मुहूर्त भर में शत्रु हो जाता है। क्रोधी मनुष्य का जगत प्रसिद्ध यश भी क्रोध के कारण किये गये अपने अकार्य से नष्ट हो जाता है।

मान

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि ।
पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥३६॥

अभिमानी से सब कोई द्वेष करने लगते हैं। मानी मनुष्य इस लोक और परलोक में कलह, भय, वैर, दुःख और अपमान को अवश्य ही प्राप्त होता है।

---

(३२) भग० आ० १३६६ (३३) भग० आ० १३६७ (३४) भग० आ० १३६८
(३५) भग० आ० १३७० (३६) भग० आ० १३७७

इन्द्रियों के विषयों में आसक्त मूढ़ (मोह ग्रस्त) कषाय (राग द्वेष) सहित और अज्ञानी आत्मा सदा ही द्वेष एवं राग करता रहता है; किंतु ज्ञानी आत्मा कभी ऐसा नहीं करता।

णस्सदि सगंपि बहुगं पि णाणमिंदियकसायसम्मिस्सं ।
विससम्मिसिददुद्धं णस्सदि जध सक्कराकढ़िदं ॥४८॥

इन्द्रिय और कषाय से मिश्रित बहुत प्रकार का ज्ञान भी उसी तरह नष्ट हो जाता है जैसे चीनी सहित विष मिश्रित दूध।

इंदियकसायदुद्दंतस्सा पाडेंति दोसविसमेसु ।
दुःखावहेसु पुरिसे पसढिलणिव्वेदखलिया हु ॥४९॥

इन्द्रिय और कषाय रूपी दुर्दान्त घोड़े, जिनकी वैराग्य रूपी लगाम ढीली करदी गई है, मनुष्यों को दुःख देने वाले दोष रूपी ऊंचे नीचे स्थानों पर निश्चय से ही गिरा देते हैं।

इंदियकसायदुद्दंतस्सा णिव्वेदखलिणिदा संता ।
ज्झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेंति ॥५०॥

इन्द्रिय और कषाय रूपी दुर्दान्त घोड़े जब वैराग्य रूपी लगाम से वश में किये जाकर ध्यान रूपी कोड़े से डराये जाते हैं तब वे दोषों से विषम अर्थात ऊंचे नीचे स्थानों पर मनुष्य को नहीं गिराते।

इंदियकसायपण्णगदट्ठा बहुवेदणुद्दिदा पुरिसा ।
पब्भट्टझाणसुक्खा संजमजीवं पविजहंति ॥५१॥

इन्द्रिय और कषाय रूपी सांपों से डसे गये जो तीव्र वेदना से पीड़ित हैं और इसीलिए जो ध्यान रूपी आनन्द से भ्रष्ट हो गये हैं ऐसे मनुष्य अपने संयम रूपी जीव का परित्याग कर देते हैं।

जह इंधणेहिं अग्गी बड्ढइ विज्झाइ इंधणेहिं विणा ।
गंथेहिं तह कसाओ वड्ढइ विज्झाइ तेहिं विणा ॥५२॥

जैसे आग इंधनों से बढ़ती है और इंधनों के बिना बुझ जाती है इसी प्रकार कषाय परिग्रह से बढ़ जाती हैं और परिग्रह के बिना बुझ जाती हैं।

---

(४८) भग० आ० १३४३ (४९) भग० आ० १३६५ (५०) भग० आ० १३६६
(५१) भग० आ० १३६७ (५२) भग० आ० १९१३

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ किं वच्चं ।
लगिदमउडादिसंगस्स वि हु ण पावं अलोहस्स ॥४२॥

तृण के विषय में उत्पन्न हुआ भी लोभ पाप को उत्पन्न करता है अन्य विपय की तो बात ही क्या है ? जिसने मुकुट पहन रक्खा है पर मुकुट में जिसकी आसक्ति नहीं है उस मनुष्य को निश्चय कर पाप का बंध नहीं होता।

तेलोक्केण वि चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि लोभघत्थस्स ।
संतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिद्दो वि णिव्वाणं ॥४३॥

लोभ ग्रस्त मनुष्य के चित्त की शुद्धि तीन लोक के प्राप्त होने पर भी नहीं होती। किन्तु लोभ रहित संतोषी मनुष्य दरिद्र होने पर भी निर्वाण तथा शांति को प्राप्त हो सकता है।

होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो ।
ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पावं इदरो जधुम्मत्तो ॥४४॥

कपाय से उन्मत्त मनुष्य ही वास्तव में उन्मत्त है। पित्त से उन्मत्त मनुष्य उस प्रकार उन्मत्त नहीं होता; क्योंकि वह उस प्रकार का पाप नहीं करता जिस प्रकार कषायों से उन्मत्त मनुष्य।

इंदियकसायचोरा सुभावणासंकलाहिं वज्झंति ।
ता ते ण विकुव्वंति चोरा जह संकलावद्धा ॥४५॥

यदि कपाय रूपी चोर अच्छी भावना रूप सांकलों से बांध दिये जावें तो वे सांकल से बंधे चोरों की तरह विकार उत्पन्न नहीं कर सकते।

णिच्चं पि अमज्झत्थे तिकालविसयाणुसरणपरिहत्थे ।
संजमरज्जूहिं जदी बंधंति कसायमक्कडए ॥४६॥

हमेशा चंचल रहने वाले और तीनों ही कालों में विपयों के अनुसरण करने में पटु ऐसे कपाय रूपी बंदरों को यति लोग संयम रूपी रस्सियों से बांध लेते हैं।

रूसइ तूसइ णिच्चं इंदियविसयेहिं संगओ मूढो ।
सकसाओ अण्णाणी णाणी एदो दु विवरीदो ॥४७॥

---

(४२) भग० आ० १३६० (४३) भग० आ० १३६१. (४४) भग० आ० १३३१
(४५) भग० आ० १४०६ (४६) भग० आ० १४०४ (४७) तत्व० ३५

शील की आगल को उल्लंघन करने की इच्छा करने वाले इन्द्रिय और कषाय रूपी हाथी धीर पुरुषों के द्वारा धैर्य रूपी जमलार (आरा युगल) के प्रहारों से ही वश में किये जा सकते है।

इंदियकसायहत्थी दुस्सीलवणं जदा अहिलसेज्ज ।
णाणंकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं ॥५६॥

जब इन्द्रिय कषाय रूपी हाथी दुःशील रूप वन में प्रवेश करने की इच्छा करे तब किसी के वश में नहीं आते। उस हाथी को ज्ञान रूपी अंकुश से ही वश में किया जा सकता है।

विसयवणमणलोला बाला इंदियकसायहत्थी ते ।
पसमे रामेदव्वा तो ते दोसं ण काहिंति ॥६०॥

विषय रूपी जंगल में रमण करने के लिए चंचल इंद्रिय और कषाय रूपी हाथी आत्म देहान्तर रूप स्वाभाविक ज्ञान होने पर ही शांति को प्राप्त किये जाने चाहिए तभी वे किसी दोष को उत्पन्न नहीं करेंगे।

ये धीरवीरपुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण ।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभडणिज्जिया जेहिं ॥६१॥

वे ही पुरुष धीर और वीर हैं जिन्होंने चमकते हुए क्षमा और जितेन्द्रियता रूपी खड्ग से दुर्जय, प्रबल और उद्दण्ड कषाय रूपी योद्धा जीत लिये हैं।

(५६) भग० आ० १४१० (६०) भग० आ० १४१२ (६१) भाव० पा० १५४

जह पत्थरो पडंतो खोभेइ दहे पसण्णमवि पंकं ।
खोभेइ पसंतंपि कसायं जीवस्स तह गंथो ॥५३॥

जैसे तालाव में गिरा हुआ पत्थर नीचे पड़े हुए कीचड़ को क्षुभित कर देता है इसी तरह जीव की प्रशांत कषाय को भी परिग्रह क्षुभित कर देता है।

उड्डहणा अदिचवला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा ।
गंथफललोलहिदया णासंति हु संजमारामं ॥५४॥

संयम का नाश करने वाले और जिनका हृदय परिग्रह के फल के लिए चंचल है ऐसे अनियंत्रित कषाय रूपी वानर संयम रूपी बगीचे को नष्ट कर देते हैं।

धिदिवम्मिएहिं उवसमसरेहिं साधूहिं णाणसत्थेहिं ।
इंदियकसायसत्तू सक्का जुत्तेहिं जेदुं जे ॥५५॥

धैर्य का कवच पहने हुए, उपशम रूपी बाणों और ज्ञान रूपी शस्त्रों वाले साधु इन्द्रिय और कषाय रूप शत्रुओं को जीतने में समर्थ हैं।

इंदियकसायवग्घा संजमणरघादणे अदिपसत्ता ।
वेरग्गलोहदढपंजरेहिं सक्का हु णियमेदुं ॥५६॥

इन्द्रिय और कषाय रूपी व्याध जो संयम रूपी मनुष्य के खाने में अत्यन्त आसक्त हैं वैराग्य रूपी लोहे के दृढ़पींजरों से ही बांधे जा सकते हैं।

इंदियकसायहत्थी वयवारिमदीणिदा उवायेण ।
विणयवरत्तावद्धा सक्का अवसा वसे कादुं ॥५७॥

किसी के अधीन न होने वाले, प्रयत्नपूर्वक व्रत रूपी बंधन गर्त में लाये गए इन्द्रिय और कषाय रूपी हाथी विनय रूपी लगाम सेबांधे जाकर ही वश में किये जासकते हैं।

इंदियकसायहत्थी वोलेदुं सीलफलियमिच्छंता ।
धीरेहिं रुंभिदव्वा धिदिजमलारुप्पहारेहिं ॥५८॥

---

(५३) भग० प्रा० १६१४ (५४) भग० प्रा० १४०३ (५५) भग० प्रा० १४०५
(५६) भग० प्रा० १४०७ (५७) भग० प्रा० १४०८ (५८) भग० प्रा० १४०६

ण य भुंजइ आहारं णिद्दं ण लहेइ रत्ति-दिण्णं त्ति ।
कत्थ वि ण कुणेइ रइं अत्थइ चिंताउरो णिच्चं ॥४॥

जूवा में आसक्त मनुष्य खाने की परवाह नहीं करता, रात और दिन नींद नहीं लेता। किसी भी काम में उसका मन नहीं लगता और वह हमेशा चिंतातुर रहता है।

अलियं करेइ सवहं, जंपइ मोसं भणेइ अइदुट्ठं ।
पासम्मि बहिणि-मायं सिसुं पि हणेइ कोहंधो ॥५॥

जूआ खेलने वाला आदमी झूठी सौगन्द खाता है, झूठ बोलता है, अत्यंत दुष्टता युक्त बातें कहता है। पास में खड़ी मा बहिन और बच्चे को भी क्रोधांध होकर मारने लगता है।

अक्खेहि णरो रहिओ ण मुणइ सेसिंदएहिं वेएइ ।
जूयंधो ण य केण वि जाणइ संपुण्णकरणो वि ॥६॥

आंखों से रहित मनुष्य यद्यपि देखता नहीं है, किन्तु अवशिष्ट इन्द्रियों से जानता है, परन्तु जूआ से अंधा आदमी संपूर्ण इन्द्रियों सहित होने पर भी किसी इन्द्रिय के द्वारा कुछ नहीं जानता।

शराब

मज्जेण णरो अवसो कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं ।
इहलोए परलोए अणुहवइ अणंतयं दुक्खं ॥७॥

शराब के अधीन होकर मनुष्य अत्यंत निन्दनीय काम करता है। वह इस लोक और परलोक में भी अनंत दुःखों को प्राप्त होता है।

जं किंचि तस्स दव्वं अजाणमाणस्स हिप्पइ परेहिं ।
लहिऊण किंचि सण्णं इदो तदो धावइ खलंतो ॥८॥

बेसुध पड़े हुए शराबी के पास जो कुछ द्रव्य होता है उसे दूसरे लोग छीन कर लेजाते हैं और जब उसे होश आता है तब उसकी प्राप्ति के लिए इधर उधर दौड़ता फिरता है।

(४) वसु० श्रा० ६८ (५) वसु० श्रा० ६७ (६) वसु० श्रा० ६६
(७) वसु० श्रा० ७० (८) वसु० श्रा० ७३

अध्याय ८

श्रावक

[इस 'श्रावक' नामक अध्याय में श्रावकों के न करने योग्य और करने योग्य कार्यों का वर्णन है। 'श्रावक' का अर्थ है धर्म को सुनने वाला अर्थात धर्म को सुनकर उसे जीवन में उतारने वाला। श्रावक अपूर्ण साधक होता है। वह अपनी परिस्थितियों के कारण श्रमण की तरह पूर्ण साधक नहीं हो सकता; इसलिए वह जीवन की बुराइयों (पापों) को विकल रूप से ही छोड सकता है; सकल रूप से नहीं। इस अध्याय की मूल्यवान गाथाएं हमारे जीवन निर्माण के लिए अवश्य ही सहायक होंगी]

श्रावक के छोड़ने योग्य सात व्यसन

जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि-चोर-परयारं।
दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥१॥

जूआ, शराव, मांस, वेश्यासेवन, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन ये सव पाप दुर्गति गमन के हेतु स्वरूप हैं इसलिए ये सात व्यसन (पाप) श्रावकों के लिए छोड़ देने योग्य हैं।

जूआ

ण गणेइ इट्ठमित्तं ण गुरुं ण य मायरं पियरं वा।
जूवंधो वुज्जाइं कुणइ अकज्जाइं वहुयाइं ॥२॥

जूआ खेलने से अंधा हुआ मनुष्य न इष्ट मित्र को गिनता है, न गुरु को और न माता पिता को तथा अनेक पापात्मक कार्यों को करता है।

सजणे य परजणे वा देसे सव्वत्थ होइ णिल्लज्जो।
माया वि ण विस्सासं वच्चइ जूयं रमंतस्स ॥३॥

जूआ खेलने वाला आदमी स्वजन में, परजन में, अपने देश में और सभी जगह निर्लज्ज हो जाता है। जूआ में आसक्त मनुष्य का विश्वास माता भी नहीं करती।

---

(१) वसु० श्रा० ५९ (२) वसु० श्रा० ६३ (३) वसु० श्रा० ६४

दूसरे के द्रव्य का हरण करना ही जिसका स्वभाव वन गया ऐसा चोर इस लोक और परलोक में असाता (दुःखों) से भरी हुई यातनाओं (तीव्र वेदनाओं) को प्राप्त होता है और उसको कभी भी सुख दृष्टिगोचर नहीं होता।

हरिऊण परस्स धणं चोरो परिवेवमाणसव्वंगो ।
चइऊण णिययगेहं धावइ उप्पहेण संतत्तो ॥१४॥

चोर दूसरे का धन हरण कर कांपने लगता है और अपने घर को छोड़ कर संतप्त होता हुआ उन्मार्ग से भागता फिरता है।

किं केण वि दिट्ठो हं ण वेत्ति हियएण धगधगंतेण ।
ल्हुक्कइ पलाइ पखलइ णिद्दं ण लहेइ भयविट्ठो ॥१५॥

क्या मुझे किसी ने देख लिया है? नहीं, नहीं देखा है। इस विचार से धक् धक् करते हुए हृदय से भयाविष्ट होकर कभी वह लुकता छिपता है, कभी फिसल कर गिरता है और नींद नहीं लेता।

परस्त्री सेवन

दट्ठूण परकलत्तं णिव्बुद्धी जो करेइ अहिलासं ।
ण य किं पि तत्थ पावइ पावं एमेव अज्जेइ ॥१६॥

दूसरे की स्त्री को देख कर जो निर्बुद्धि उसकी अभिलाषा करता है उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता, इस प्रकार वह केवल पाप का ही अर्जन करता है।

ण य कत्थ वि कुणइ रइं मिट्ठं पि य भोयणं ण भुंजेइ ।
णिद्दं पि अलहमाणो अच्छइ विरहेण संतत्तो ॥१७॥

परस्त्री की इच्छा करने वाले मनुष्य को कोई भी चीज अच्छी नहीं लगती। वह मधुर भोजन भी नहीं करता, नीद भी उसे नहीं आती और वह केवल विरह से संतप्त रहता है।

अह भुंजइ परमहिलं अणिच्छमाणं बलाधरेऊणं ।
किं तत्थ हवइ सुक्खं पच्चेल्लिउ पावए दुक्खं ॥१८॥

---

(१४) वसु० श्रा० १०२ (१५) वसु० श्रा० १०३ (१६) वसु० श्रा० ११२
(१७) वसु० श्रा० ११५ (१८) वसु० श्रा० ११८

मांस

मंसासणेण वड्ढइ दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ ।
जूयं पि रमइ तो तं पि वण्णिए पाउणइ दोसे ॥९॥

मांस के खाने से दर्प (एक प्रकार का उन्माद) बढ़ता है उससे वह शराब पीना चाहता है और तब वह जूआ खेलने में आसक्त हो जाता है; इस प्रकार ऊपर वर्णन किये हुए सभी दोषों में मनुष्य फंस जाता है।

वेश्या

रत्तं णाऊण णरं सव्वस्सं हरइ वंचणसएहिं ।
काऊण मुयइ पच्छा पुरिसं चम्मट्ठिपरिसेसं ॥१०॥

वेश्या मनुष्य को अपने में प्रेमासक्त जानकर सैकडों वंचनाओं के द्वारा उसका सर्वस्व हरण कर लेती है और उसे अस्थि चर्मावशेष (केवल जब उसके शरीर में हड्डी और चमड़ा रह जाता है) बनाकर छोड़ देती है।

पभणई पुरओ एयस्स सामी मोत्तूण णत्थि मे अण्णो ।
उच्चइ अण्णस्स पुणो करेइ चाडूणि बहुयाणि ॥११॥

वह एक पुरुष के सामने कहती है, "स्वामी! तुम्हें छोड़ कर दूसरा कोई भी मेरा नहीं है"। इसी प्रकार दूसरे के सामने कहती है और इस तरह वह अनेक चापलूसी की बातें करती रहती है।

शिकार

णिच्चं पलायमाणो तिणचारी तह णिरवराहो वि ।
कह णिग्घणो हणिज्जइ आरण्णणिवासिणो वि मए ॥१२॥

दयाहीन मनुष्य, डर के कारण हमेशा दौड़ते रहने वाले, केवल तृण भक्षण करने वाले, निरपराध एवं जंगल में रहने वाले मृग को कैसे मारता है ?

चोरी

परदव्वहरणसीलो इह-परलोए असायबहुलाओ ।
पाउणइ जायणाओ ण कयावि सुहं पलोएइ ॥१३॥

---

(९) वसु० श्रा० ८६ (१०) वसु० श्रा० ८९ (११) वसु० श्रा० ९०
(१२) वसु० श्रा० ९६ (१३) वसु० श्रा० १०१

[जंगल फुंकवाना, तालाव सुखाना, जंगल काटना आदि महाहिंसा के कार्य महारंभ कहलाते हैं।]

सत्याणुव्रत

अलियं ण जंपणीयं पाणिवहकरं तु सच्चवयणं पि ।
रायेण य दोसेण य णेयं विदियं वयं थूलं ॥२३॥

हिंसावयणं ण वयदि कक्कसवयणं पि जो ण भासेदि ।
णिहुरवयणं पि तहा ण भासदे गुज्झवयणं पि ॥२४॥

हिदमिदवयणं भासदि संतोसकरं तु सव्वजीवाणं ।
धम्मपयासणवयणं अणुव्वई हवदि सो विदिओ ॥२५॥

राग अथवा द्वेष से झूंठ नहीं बोलना चाहिए, प्राणियों का वध करने वाला सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए; यही दूसरा सत्याणुव्रत कहलाता है।

जो हिंसा कारक वचन नहीं बोलता, जो कर्कश वचन नहीं बोलता, जो निष्ठुर वचन भी नहीं बोलता और जो गुह्य वचन नहीं बोलता उसके सत्याणुव्रत होता है।

सत्याणुव्रती मनुष्य हितकारी और प्रिय वचन बोलता है जो सब जीवों के लिए संतोष के कारण और धर्म को प्रकट करने वाले हैं ऐसे वचन बोलता है।

[तू मूर्ख है, तू गधा है, तू कुछ नहीं जानता-समझता इत्यादि कानों को अप्रिय लगने वाले वचन कर्कश वचन कहलाते हैं। तुम्हें मार डालूंगा, तुम्हारी नाक काट लूंगा आदि वाक्य निष्ठुर वचन कहलाते हैं। स्त्री पुरुषों के गुह्य कार्यों को प्रकट करने वाले वाक्य गुह्य वचन कहलाते हैं।]

अचौर्याणुव्रत

पुर-गाम-पट्टणाइसु पडियं णट्ठं च णिहिय वीसरियं ।
परदव्वमगिण्हंतस्स होइ थूलवयं तदियं ॥२६॥

---

(२३) वसु० श्रा० २१० (२४) कार्तिके० ३३३ (२५) कार्तिके० ३३४
(२६) वसु० श्रा० २११

अपने को नहीं चाहने वाली अन्य महिला को अगर वह जबरदस्ती पकड़ कर उसका भोग करता है तो उससे क्या सुख मिलता है ? कुछ भी नहीं। उसके फल स्वरूप केवल दुःख ही प्राप्त होता है।

श्रावक के धारण करने योग्य बारह व्रत

पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं च हुंति तिन्नेव ।
सिक्खावयाइं चउरो सावगधम्मो दुवालसहा ॥१६॥

पांच अणुव्रत, तीन गुण व्रत, और चार शिक्षाव्रत; यह बारह प्रकार का श्रावक धर्म है।

अणुव्रत

पाणाइवायविरई सच्चमदत्तस्स वज्जणं चेव ।
थूलयडबंभचेरं इच्छाए गंथपरिमाणं ॥२०॥

प्राणों की हिंसा से स्थूल विरक्ति (अहिंसा), स्थूल सत्य,स्थूल अचौर्य स्थूल ब्रह्मचर्य, और परिग्रह का परिमाण ये पांच श्रावक (गृहस्थ) के अणुव्रत हैं।

[श्रावक हिंसादि पांच पापों को पूरे रूप से नहीं छोड़ सकता। वह अधिक से अधिक उनके जितने अंशों को छोड सकता है वे ही उनके स्थूल-रूप कहलाते हैं]

अहिंसाणुव्रत

जो वावरइ सदओ अप्पाणसमं परं पि मण्णंतो ।
निंदणगरहणजुत्तो परिहरमाणो महारंभे ॥२१॥

तस-घादं जो ण करदि मण-वय-काएहिं णेव कारयदि ।
कुव्वंतं पि ण इच्छदि पढम-वयं जायदे तस्स ॥२२॥

जो श्रावक दूसरों को भी अपने ही समान समझता हुआ कोई भी काम दयापूर्वक करता है और अपनी निन्दा तथा गर्हा करता हुआ पाप के कारण महा आरंभों को नहीं करता तथा जो मन, वचन और काय से त्रस जीवों का घात न स्वयं करता है, न दूसरों से कराता है और न दूसरों के हिंसा के कामों की अनुमोदना करता है उस श्रावक के प्रथम अहिंसा अणुव्रत होता है।

---

(१६) श्रा० प्र० ६ (२०) वसु० श्रा० २०८ (२१) कार्तिके० ३३१
(२२) कार्तिके० ३३२

धन धान्य, चांदी और सोने आदि पदार्थों का जो परिमाण किया जाता है वह उपासकाध्ययन (श्रावक धर्म का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र) में पांचवां अणुव्रत कहलाता है।

जो लोहं णिहणित्ता संतोसरसायणेण संतुट्ठो ।
णिहणदि तिह्णा दुट्ठा मण्णंतो विणस्सरं सव्वं ॥३२॥

जो परिमाणं कुव्वदि धणधाणसुवण्णखित्तमाईणं ।
उवओगं जाणित्ता अणुव्वयं पंचमं तस्स ॥३३॥

जो जगत के प्रत्येक पदार्थ को विनश्वर समझता हुआ लोभ का विनाश कर संतोष रूप रसायन से संतुष्ट होता है और दुष्ट तृष्णा का निग्रह करता है।

जो धन (गाय, घोड़ा, भैंस आदि) धान्य (गेहूँ जौ आदि) सोना और क्षेत्र आदि का उपयोग (जितने से काम चल सके) जानकर परिमाण कर लेता है वह पांचवें अणुव्रत (परिग्रह परिमाणाणुव्रत) का धारण करने वाला है।

गुणव्रत--दिग्व्रत

जहलोहणासणट्ठं संगपमाणं हवेइ जीवस्स ।
सव्वं दिसिसु पमाणं तह लोहं णासए णियमा ॥३४॥

जं परिमाणं कीरदि दिसाण सव्वाण सुप्पसिद्धाणं ।
उवओगं जाणित्ता गुणव्वयं जाण तं पढमं ॥३५॥

जैसे लोभ के नाश के लिये जीव के परिग्रह का परिमाण होता है वैसे सब दिशाओं में जाने का परिमाण करना भी नियम से लोभ का नाश करता है। इसलिए उपयोग का खयाल कर सभी प्रसिद्ध दिशाओं में जाने का परिमाण करना पहला गुणव्रत है।

अनर्थदण्डव्रत

अय-दंड-पासविक्कयकूड-तुलामाणकूरसत्ताणं ।
जं संगहो ण कीरइ तं जाण गुणव्वयं तदियं ॥३६॥

---

(३२) कार्तिके० ३३६ (३३) कार्तिके० ३४० (३४) कार्तिके० ३४१
(३५) कार्तिके० ३४२ (३६) वस० श्रा० २१६

जो वहुमुल्लं वत्थुं अप्पमुल्लेण णेय गिह्णदि ।
वीसरियं पि ण गिह्णदि लाभे थूयेहि तूसेदि ॥२७॥

जो परदव्वं ण हरइ मायालोहेण कोहमाणेण ।
दिढचित्तो सुद्धमई अणुव्वई सो हवे तिदिओ ॥२८॥

पुर, ग्राम और पत्तन आदि में पड़े हुए, खोये हुए, रक्खे हुए, भूले हुए, या रख कर भूले हुए दूसरे के द्रव्य को जो ग्रहण नहीं करता है उसके तीसरा स्थूलव्रत अर्थात अचौर्य अणुव्रत होता है।

जो वहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य से नहीं लेता, जो किसी की भूली हुई चीज को भी ग्रहण नहीं करता, जो थोड़े से लाभ से संतुष्ट हो जाता है, जो दृढ़ चित्त एवं शुद्धमति मनुष्य माया, लोभ, क्रोध और मान से पर द्रव्य का हरण नहीं करता उसके तीसरा अणुव्रत (अचौर्याणुव्रत) होता है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत

जो मण्णदि परमहिलं जणणीवहणीसुआइसारित्थं ।
मणवयणे कायेण वि वंभवई सो हवे थूलो ॥२९॥

पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीडा सया विवज्जंतो ।
थूलयड वंभयारी जिणेहि भणिओ पवयणम्मि ॥३०॥

जो मन वचन और कायसे परस्त्री को माता, वहिन और सुता के समान समझता है उसके स्थूल ब्रह्मचर्य होता है।

अष्टमी, चतुर्दशी, दशलक्षण (पर्यूषण) और अष्टान्हिका आदि पर्वों में स्त्री सेवन एवं अनंग क्रीडा (काम सेवन के अंगों से भिन्न अंगों के द्वारा काम क्रीड़ा करना) का सदा परित्याग करता हुआ मनुष्य प्रवचनमें जिनेन्द्र भगवान के द्वारा स्थूल ब्रह्मचारी कहा गया है।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत

जं परिमाणं कीरइ धण-धण्ण-हिरण्ण-कंचणाईणं ।
तं जाण पंचमवयं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥३१॥

(२७) कार्तिके० ३३५ (२८) कार्तिके० ३३६ (२९) कार्तिके० ३३८
(३०) वसु० श्रा० २१२ (३१) वसु० श्रा० २१३

सामायिक के योग्य काल

पुव्वह्ले मज्झह्ले अवरह्ले तिहिं वि णालियाछक्को ।
सामाइयस्स कालो सविणयणिस्सेसणिद्दिट्ठो ॥४१॥

गणधरादिक देवों ने पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न इन तीनों संध्याओं में छः छः घड़ी अथवा तीनों को मिलाकर छः घड़ी सामायिक का काल बताया है ।

सामायिक के योग्य आसन, लय और त्रियोग की शुद्धता

वंधित्तो पज्जंकं अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा ।
कालपमाणं किच्चा इंदियवावारवज्जिओ होउ ॥४२॥
जिणवयणेयग्गमणो संपुडकाओ य अंजलिं किच्चा ।
ससरूवे संलीणो वंदणअत्थं वि चिंतित्तो ॥४३॥
किच्चा देसपमाणं सव्वं सावज्जवज्जिदो होऊ ।
जो कुवदि सामइयं सो मुणिसरिसो हवे सावो ॥४४॥

पर्यंकासन को वांध कर अथवा सीधा खड़ा हो कर, कालका प्रमाण करके, इन्द्रियों के व्यापार को रोक कर, जिनवचन में मन को एकाग्र करके, काय को संकोच कर, हाथों की अंजुलि करके, अपने स्वरूप में अथवा वंदना पाठ के अर्थ में लीन हुआ, क्षेत्र का प्रमाण करके, समस्त सावद्य (पापों में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति) योग से वर्जित होकर जो श्रावक सामायिक करता है वह मुनि के समान है ।

प्रोषधोपवास

ण्हाणविलेवणभूसणइत्थीसंसग्गगंधधूवदीवादि ।
जो परिहरेदि णाणी वेरग्गभरणभूसणं किच्चा ॥४५॥
दोसु वि पव्वेसु सया उववासं एयभत्तणिव्वियडी ।
जो कुणइ एवमाई तस्स वयं पोसहं विदियं ॥४६॥

जो ज्ञानी श्रावक दोनों पर्वों (अष्टमी चतुर्दशी) में स्नान, विलेपन, भूषण, स्त्री संसर्ग, गंध धूप आदि का त्याग करता है और वैराग्य रूप आभूषण से

(४१) कार्तिके० ३५४ (४२) कार्तिके० ३५५ (४३) कार्तिके ३५६
(४४) कार्तिके० ३५७ (४५) कार्तिके० ३५८ (४६) कार्तिके० ३५६

लोहे के शस्त्र, दण्डा और जाल आदि के बेचने का त्याग करना, झूंठी तराजू और झूंठे नापने तौलने आदि के बाटों का न रखना और कुत्ता बिल्ली आदि क्रूर जीवों का संग्रह न करना तीसरा अनर्थदण्ड त्याग नामक गुणव्रत जानना चाहिये।

भोगोपभोग परिमाण व्रत

जाणित्ता संपत्ती भोयणतंबोलवत्थुमाईणं ।
जं परिमाणं कीरदि भोउवभोयं वयं तस्स ॥३७॥

अपनी संपत्ति अथवा अपनी सामर्थ्य समझ कर जो भोजन ताम्बूल और वस्त्र आदि वस्तुओं का परिमाण किया जाता है वह उसका भोगोपभोग परिमाण व्रत कहलाता है।

जो परिहरेइ संतं तस्स वयं थुव्वदे सुरिंदेहिं ।
जो मणुलड्डव भक्खदि तस्स वयं अप्पसिद्धियरं ॥३८॥

जो मनुष्य प्राप्त वस्तुओं का त्याग करता है उसके व्रत की सुरेन्द्र भी प्रशंसा करते हैं किन्तु जो मनुष्य अपने पास में अविद्यमान वस्तु का त्याग करता है वह मानो मन के लड्डू खाता है। इस प्रकार का त्याग उतना सार्थक तो नहीं है; फिर भी अल्पसिद्धि करने वाला तो है ही।

शिक्षाव्रत–सामायिक

सामाइयस्स करणे खेत्तं कालं च आसणं विलओ ।
मणवयणकायसुद्धी णायव्वा हुंति सत्तेव ॥३९॥

सामायिक के करने में क्षेत्र, काल, आसन और विलय (अपने स्वरूप में लीन होना) तथा मन, वचन और काय की शुद्धि ये सात कारण जानने चाहिये।

सामायिक के योग्य क्षेत्र

जत्थ ण कलयलसद्दं बहुजनसंघट्टणं ण जत्यत्थि ।
जत्थ ण दंसादीया एस पसत्थो हवे देसो ॥४०॥

जहां कल कल शब्द नहीं हो रहा हो, बहुत लोगों का आना जाना न होता हो, जहां डांस मच्छर आदि जीव जन्तु न हों वही सामायिक के लिए प्रशस्त देश (स्थान) है।

---

(३७) कार्तिके० ३५० (३८) कार्तिके० ३५१ (३९) कार्तिके० ३५२
(४०) कार्तिके० ३५३

व्रत, तप और शील से पूर्ण किन्तु सम्यक्त्व (सच्ची श्रद्धा अथवा दृष्टि) से रहित कुपात्र तथा सम्यक्त्व और व्रत शील से भी वर्जित जीव अपात्र कहलाता है।

दातार के गुण

सद्धा भत्ती तुट्ठी विण्णाणमलुद्धया खमा सत्ती ।
जत्थेदे सत्त गुणा तं दायारं पसंसंति ॥५३॥

जिस दातार में श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति ये सात गुण होते हैं विद्वान लोग उस दातार की प्रशंसा करते हैं— अर्थात उसे ही दातार कहते हैं।

दान विधि

पडिग्गहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च ।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य दाणविही ॥५४॥

श्रमण को दान देने के लिए ये निम्न लिखित नौ विधियां की जाती हैं:- १ श्रमण को ठहराना, २. उच्च आसन पर बिठाना, ३. पैर धोना, ४. पूजा स्तुति करना, ५. प्रणाम करना, ६. मन शुद्ध होना, ७. वचन शुद्ध होना, ८. काय शुद्ध होना और ९. भोजन शुद्ध होना।

दान के भेद

आहारोसह-सत्थाभयभेओ जं चउव्विहं दाणं ।
तं वुच्चइ दायव्वं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥५५॥

उपासकाध्ययन में आहार, औषधि, शास्त्र (ज्ञान) और अभय इन चार प्रकार के दानों का निर्देश किया गया है। इसलिये इन्हें जरूर देना चाहिये।

भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि ।
भुक्खतिसाएवाही दिणे दिणे होंति देहीणं ॥५६॥

भोयणबलेण साहू सत्थं संवेदि रत्तिदिवहं पि ।
भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति ॥५७॥

---

(५३) वसु० श्रा० २२४ (५४) वसु० श्रा० २२५ (५५) वसु० श्रा० २३३
(५६) कार्तिके० ३६३ (५७) कार्तिके० ३६४

भूपित होकर उपवास या एक वार भोजन अथवा निर्विकार भोजन आदि करता है उसके प्रोपधोपवास नामक दूसरा शिक्षाव्रत होता है।

अतिथिसंविभाग

तिविहे पत्तम्हि सया सद्धाइ-गुणेहिं संजुदो णाणी ।
दाणं जो देदि सयं णव-दाण-विहीहिं संजुत्तो ॥४७॥
सिक्खावयं च तदियं तस्स हवे सव्वसोक्खसिद्धियरं ।
दाणं चउव्विहं पि य सव्वे दाणाण सारयरं ॥४८॥

श्रद्धादि गुणों से युक्त जो ज्ञानवान श्रावक सदा तीन प्रकार के पात्रों को दान की नौ विधियों पूर्वक स्वयं दान देता है उसके तीसरा शिक्षा व्रत होता है। यह चार प्रकार का दान सब दानों में श्रेष्ठ है और सब सुखों एवं सिद्धियों का करने वाला है।

पत्तंतरदायारो दाणविहाणं तहेव दायव्वं ।
दाणस्स फलं णेया पंचहियारा कमेणेदे ॥४९॥

पात्र के भेद, दातार, दान के भेद तथा विधि, देने योग्य वस्तु और दान का फल ये क्रम से दान के पांच अधिकार हैं।

पात्र के भेद

तिविहं मुणेह पत्तं उत्तम-मज्झिम-जहण्णभेएण ।
वय-णियम-संजमधरो उत्तमपत्तं हवे साहू ॥५०॥

पात्र के तीन भेद हैं—उत्तम पात्र, मध्यम पात्र और जघन्य पात्र। व्रत नियम और संयम का धारण करने वाला साधु उत्तम पात्र है।

एयारसठाणठिया मज्झिमपत्तं खु सावया भणिया ।
अविरयसम्माइट्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वं ॥५१॥

ग्यारह स्थानों में स्थित श्रावक मध्यम पात्र और व्रत रहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र कहलाता है।

वय-तव-सीलसमग्गो सम्मत्तविवज्जिओ कुपत्तं तु ।
सम्मत्त-सील-वयवज्जिओ अपत्तं हवे जीओ ॥५२॥

---

(४७) कार्तिके० ३६० (४८) कार्तिके० ३६१ (४९) वसु० श्रा० २२०
(५०) वसु० श्रा० २२१ (५१) वसु० श्रा० २२२ (५२) वसु० श्रा० २२३

दान का फल

इह परलोयणिरीहो दाणं जो देदि परमभत्तीए ।
रयणत्तयेसु ठविदो संघो सयलो हवे तेण ॥६३॥

इस लोक और परलोक के फल की इच्छा नहीं करता हुआ परमभक्ति से जो दान देता है वह सारे संघ को रत्नत्रय में स्थापित कर देता है।

उत्तमपत्तविसेसे उत्तमभत्तीए उत्तमं दाणं ।
एयदिणे वि य दिण्णं इंदसुहं उत्तामं देदि ॥६४॥

उत्तम पात्र विशेष को उत्तम भक्ति से एक दिन भी दिया गया उत्तम दान इन्द्र के उत्तम सुख को देता है।

जह उत्तामम्मि खित्ते पइण्णमण्णं सुबहुफलं होइ ।
तह दाणफलं णेयं दिण्णं तिविहस्स पत्तास्स ॥६५॥

जैसे उत्तम क्षेत्र में बोया हुआ अन्न बहुत फल को देता है वैसे ही तीन प्रकार के पात्रों को दिया हुआ दान का फल भी समझना चाहिए।

जह मज्झिमम्मि खित्ते अप्पफलं होइ वावियं बीयं ।
मज्झिमफलं विजाणह कुपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥६६॥

जैसे मध्यम क्षेत्र में बोया हुआ बीज अल्पफल वाला होता है वैसे ही कुपात्र को दिया गया दान मध्यम फल वाला जानना चाहिए।

जह ऊसरम्मि खित्ते पइण्णबीयं ण किं पि रुहेइ ।
फलवज्जियं वियाणह अपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥६७॥

जैसे ऊसर क्षेत्र में बोया हुआ बीज कुछ भी नहीं उगता है वैसे ही अपात्र को दिया गया दान भी बिलकुल निष्फल है।

कम्हि अपत्तविसेसे दिण्णं दाणं दुहावहं होइ ।
जह विसहरस्स दिण्णं तिव्वविसं जायए खीरं ॥६८॥

किसी अपात्र विशेष को दिया गया दान दुःख जनक हो जाता है जैसे विषधर सांप को दिया गया दूध तीव्र विष हो जाता है।

---

(६३) कार्तिके० ३६५ (६४) कार्तिके० ३६६ (६५) वसु० श्रा० २४०
(६६) वसु० श्रा० २४१ (६७) वसु० श्रा० २४२ (६८) वसु० श्रा० २४३

भोजन दान देने से तीनों ही दान दिये हुए हो जाते हैं; क्योंकि भूख और प्यास की व्याधियां देहधारियों को प्रतिदिन होती रहती हैं। भोजन के वल से साधु रातदिन शास्त्रों का अनुभव करता है और भोजन देने पर प्राणों की रक्षा भी होती है।

असणं पाणं खाइमं साइयमिदि चउविहो वराहारो ।
पुव्वुत्त-णव-विहाणेहिं तिविह पत्तस्स दायव्वो ॥५८॥

असन, (चावल रोटी आदि) पान, (दूध पानी आदि) खाद्य, (लड्डू वर्फी आदि) और स्वाद्य (इलायची आदि) इस तरह चार प्रकार का आहार होता है। पहले कही हुई नव विधियों से तीन प्रकार के पात्रों को यह आहार दान देना चाहिए।

अइवुड्ढ-वाल-मूयंध-वहिर-देसंतरीय-रोडाणं ।
जहजोग्गं दायव्वं करुणादाणत्ति भणिऊण ॥५६॥

अतिवृद्ध, वाल, गूंगा, अंधा, वहरा, विदेशी, रोगी अथवा दरिद्र को "यह करुणा दान है" यह समझ कर यथा योग्य देना चाहिये।

उववास-वाहि-परिसम-किलेस-परिपीडयं मुणेऊण ।
पत्थं सरीरजोग्गं भेसजदाणं पि दायव्वं ॥६०॥

उपवास, व्याधि, परिश्रम, और क्लेश से पीडित मनुष्य को पथ्य और शरीर के योग्य औषधि दान भी जरूर देना चाहिए।

आगमसत्थाइं लिहाविऊण दिज्जंति जं जहाजोग्गं ।
तं जाण सत्थदाणं जिणवयणज्भावणं च तहा ॥६१॥

आगम शास्त्रों को लिखा कर यथा योग्य पात्रों को देना और लोगों को जिन वचनों का अध्यापन कराना भी शास्त्र दान है।

जं कीरइ परिरक्खा णिच्चं मरण-भयभीरुजीवाणं ।
तं जाण अभयदाणं सिहामणिं सव्वदाणाणं ॥६२॥

जो मरण के भय से डरे हुए जीवों की सदा रक्षा की जाती है वह अभय दान कहलाता है और यह दान सारे दानों का शिखामणि है।

---

(५८) वसु० श्रा० २३४ (५६) वसु० श्रा० २३५ (६०) वसु० श्रा० २३६
(६१) वसु० श्रा० २३७ (६२) वसु० श्रा० २३८

भाव पूजा

काऊणाणंचतउट्ठयाइगुणकित्तण जिणाईणं ।
जं वंदणं तियालं कीरइ भावच्चणं तं खु ॥७४॥

जो जिनेन्द्रआदि के अनंत चतुष्टय वगैरह गुणों का कीर्तन और त्रिकाल वंदन किया जाता है वह निश्चय से भाव पूजा है ।

पंचणमोक्कारपएहिं अहवा जावं कुणिज्ज सत्तीए ।
अहवा जिणिंदथोत्तं वियाण भावच्चणं तं पि ॥७५॥

अथवा यथाशक्ति पंच नमस्कार पदों से भगवान का जाप करना या उन का स्तोत्र पढ़ना ही भाव पूजा कहलाती है ।

सल्लेखना

वारसवएहिं जुत्तो जो संलेहण करेदि उवसंतो ।
सो सुरसोक्खं पाविय कमेण सोक्खं परं लहदि ॥७६॥

जो उपशम भाव वाला श्रावक बारह व्रतों से युक्त होकर सल्लेखना करता है वह देवगति का सुख प्राप्त कर क्रम से उत्कृष्ट सुख को प्राप्त होता है ।

---

(७४) वसु० श्रा० ४५६ (७५) वसु० श्रा० ४५७ (७६) कार्तिके० ३९९

देशव्रत

पुव्वपमाणकदाणं सव्वदिसीणं पुणो वि संवरणं ।
इंदियविसयाण तहा पुणो वि जो कुणदि संवरणं ॥६९॥
वासादिकयपमाणं दिणे दिणे लोहकामसमणत्थं ।
सावज्जवज्जणट्ठं तस्स चउत्थं वयं होदि ॥७०॥

जो श्रावक लोभ और काम को घटाने एवं सावद्य (पाप) को छोड़ने के लिये, वर्ष आदि की अथवा प्रतिदिन की मर्यादा करके पहले (दिग्व्रत में) किये हुए दिशाओं के परिमाण को एवं भोगोपभोग परिमाण में किये हुए इन्द्रियों के विषयों के परिमाण को और भी कम करता है उसके चौथा देशावकाशिक नाम का शिक्षाव्रत होता है।

श्रावक की सामान्य क्रियायें-विनय

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे ।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ॥७१॥

विनय ही शासन का मूल है। विनीत ही संयत हो सकता है। जो विनय रहित है उसे धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती और न तप की प्राप्ति हो सकती है।

वैयावृत्य

गुणपरिणामो जायइ जिणिंद-आणा य पालिया होइ ।
जिणसमय-तिलयभूओ लब्भइ अयतो वि गुणरासी ॥७२॥
भमइ जए जसकित्ती सज्जणसुइ-हियय-णयण-सुहजणणी ।
अण्णेवि य होंति गुणा विज्जावच्चेण इहलोए ॥७३॥

वैयावृत्त्य करने से गुणपरिणमन होता है, जिनेन्द्र की आज्ञा का परिपालन होता है। इससे असंयमी भी जिनशासन का तिलक भूत होकर गुणों की राशि को प्राप्त होता है।

वैयावृत्त्य करने से सज्जन पुरुषों के कान, हृदय और नयनों को सुख देने वाली यशः कीर्ति जगत में फैल जाती है तथा और भी बहुत से गुण इस लोक में वैयावृत्त्य से प्राप्त हो जाते हैं।

---

(६९) कार्तिके० ३६७ (७०) कार्तिके० ३६८ (७१) प्रा० सा० इ० पेज ४६२ (७२) वसु० श्रा० ३४३ (७३) वसु० श्रा० ३४४

आत्म प्रशंसा को छोड़ दो, अपने यश के विनाश करने वाले मत बनो अर्थात् आत्म प्रशंसा से यश का विनाश हो जाता है। स्वय ही अपनी प्रशंसा करता हुआ मनुष्य निश्चय ही लोगों में तृण से भी हलका हो जाता है।

चरिएहिं कत्थमाणो सगुणं सगुणेसु सोभदे सगुणो ।
वायाए वि कहिंतो अगुणो व जणम्मि अगुणम्मि ॥५॥

गुणवान आदमी गुणवानों में अपने गुण को अपने कार्यों से ही प्रकट करता हुआ शोभा को प्राप्त होता है जैसे गुणहीन गुणरहित लोगों में वचनों से अपनी प्रशसा करता हुआ।

सगुणम्मि जणे सगुणो वि होइ लहुगो णरो विकत्थितो ।
सगुणो वा अकहिंतो वायाए होंति अगुणेसु ॥६॥

गुणवानों में अपने गुणों को कहता हुआ गुणवान आदमी हलका कहलाने लगता है जैसे गुणहीन लोगों में अपने वचनों से अपने गुणों को नहीं कहता हुआ गुणवान आदमी।

वायाए जं कहणं गुणाण तं णासणं हवे तेसिं ।
होदि हु चरिदेण गुणाण कहणमुब्भासणं तेसिं ॥७॥

वचन से अपने गुणों का कहना उन गुणों का नाश करना है और अपने चरित्र (आचरण) से उनको कहना उनका उद्भासण प्रकट करना) कहलाता है।

अविकत्थंतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजणमज्झम्मि ।
सो चेव होदि हु गुणो जं अप्पाणं ण थोएइ ॥८॥

आत्म प्रशंसा नहीं करता हुआ मनुष्य गुण रहित होने पर भी सुजनों के मध्य गुणवान की तरह हो जाता है। गुण वही है जो अपनी प्रशंसा अपने आप नहीं करता।

संतं सगुणं कित्तिज्जंतं सुजणो जणम्मि सोदूणं ।
लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा ॥९॥

---

(५) भग० आ० ३६८ (६) भग० आ० ३६७ (७) भग० आ० ३६५
(८) भग० आ० ३६४ (९) भग० आ० ३६३

अध्याय ९

आत्म प्रशंसा-पर निंदा

[आत्म प्रशंसा और पर निंदा मनुष्य का एक बडा दुर्गुण है। इससे मनुष्य की महत्ता कम हो जाती है। उन्नति शील मनुष्य को इस दुर्गुण से जरूर बचना चाहिए। इस अध्याय में इस विषय से संबंधित गाथाओं को पढिए।]

वायाए अकहंता सुजणे चरिदेहि कहियगा होंति ।
विकहिंतगा य सगुणे पुरिसा लोगम्मि उवरीव ॥१॥

सज्जनों के बीच अच्छे लोग अपने गुणों को अपनी वाणी से नहीं अपितु अपने कार्यों से प्रकट करते हैं। अपने गुणों की प्रशंसा नहीं करते हुए वे मनुष्य लोक में सबके ऊपर उठ जाते हैं।

ण य जायंति असंता गुणा विकत्थंतयस्स पुरिसस्स ।
धंति हु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव ॥२॥

अपनी आत्म प्रशंसा करने वाले मनुष्य के अविद्यमान गुण विद्यमान नहीं हो जाते। जैसे स्त्रियों के समान खूब आचरण करनेवाला भी नपुंसक नपुंसक ही रहता है, वह स्त्री नहीं हो जाता।

संतो हि गुणा अकहिंतयस्स पुरिसस्स ण वि य णस्संति ।
अकहिंतस्स वि जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो ॥३॥

नहीं कहने वाले मनुष्य के भी विद्यमान गुण नष्ट नहीं हो जाते जैसे अपने तेज का बखान नहीं करनेवाले ग्रहपति (सूरज) का तेज स्वयं ही संसार प्रख्यात हो जाता है।

अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा ।
अप्पाणं थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि ॥४॥

---

(१) भग० गा० ३६६ (२) भग० गा० ३६२ (३) भग० गा० ३६१
(४) भग० गा० ३५९

अध्याय १०

शील - संगति

[शील और संगति मानव जीवन की विशेषताएँ हैं। जो इस ओर ध्यान नहीं देता वह अपने जीवन के आनंद से वंचित रह जाता है। इस अध्याय में इन दोनों से संबंधित गाथाओं को पढकर उनसे प्रेरणा प्राप्त कीजिए।]

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य ।
सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोपाणं ॥१॥

शील ही विशुद्ध तप है, शील ही दर्शनशुद्धि और ज्ञानशुद्धि है। शील ही विषयों का दुश्मन है और शील ही मोक्ष की सीढी है।

जीवदया दम सच्चं अचोरियं वंभचेरसंतोसे ।
समद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो ॥२॥

जीव दया, इंद्रियों को वश में करना, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप ये सब शील के परिवार हैं।

सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढचरित्ताणं ।
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥३॥

शील की रक्षा करने वाले, सम्यग्दर्शन शुद्ध, दृढ चरित्र एवं विषयों में विरक्त चित्त मनुष्यों को निर्वाण की प्राप्ति अवश्य ही होती है।

उदधी व रदणभरिदो तवविणयं सीलदाणरयणाणं ।
सोहेतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥४॥

तप, विनय, शील और दान रूपी रत्नों से भरा हुआ शीलवान मनुष्य; रत्नों से भरे हुए समुद्र की तरह सुशोभित होता है और उसे उत्कृष्ट निर्वाण की प्राप्ति होती है।

---

(१) शील प्रा० २०　　(२) शील प्रा० १६　　(३) शील प्रा० १२
(४) शील प्रा० २८

सज्जन पुरुष लोगों में अपने विद्यमान गुण की प्रशंसा सुन कर लज्जित हो जाता है तब वह स्वयं ही अपने गुणों की प्रशंसा कैसे कर सकता है।

अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प वहुदरो होदि ।
उदए व तेल्लबिंदू किह सो जंपिहिदि परदोसं ॥१०॥

जल में तेलबिन्दु की तरह दूसरे का अल्प गुण भी सत्पुरुष को प्राप्त होकर वहुतर (वहुत अधिक) होजाता है। ऐसा सत् पुरुष क्या किसी के दोष को कहेगा ?

दठ्ठूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ ।
रक्खइ य सयं दोसं व तयं जणजंपणभएण ॥११॥

सत् पुरुष दूसरे के दोष को देख कर स्वयं लज्जित होजाता है और जन निंदा के भय से अपने दोष की तरह उसे छिपाता है।

किच्चा परस्स णिंदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज ।
सो इच्छदि आरोग्गं परम्मि कडुओसहे पीए ॥१२॥

जो दूसरे की निंदा कर अपने को गुणवानों में स्थापित करने की इच्छा करता है वह दूसरों को कड़वी औषधि पिला कर स्वयं रोग रहित होजाना चाहता है।

आयासवेरभयदक्खसोयलहुगत्तणाणि य करेइ ।
परणिंदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा ॥१३॥

पर निंदा पाप जनक, सज्जनों को अप्रिय, दुर्भाग्य उत्पन्न करने वाली और थकान, वैर, डर, दुःख, शोक, और हलकेपन का कारणहै।

---

(१०) भग० भा० ३७३ (११) भग भा० ३७२ (१२) भग० भा० ३७१
(१३) भग० भा० ३७०

दुर्जन की संगति के दोष से सज्जन भी हलका हो जाता है। मोल से गुरु अर्थात् कीमती माला भी मुर्दे के संसर्ग से निकम्मी हो जाती है।

दुज्जणसंसग्गीए पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि ।
सीयलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण ॥११॥

दुर्जन की संगति से सज्जन भी निश्चय ही अपने गुणों को छोड़ देता है जैसे जल अग्नि के संसर्ग से अपने शीतल स्वभाव को छोड़ देता है।

तं वत्थु मोत्तव्वं जं पडिउप्पज्जदे कसायग्गि ।
तं वत्थुमल्लिएज्जो जत्थोवसमो कसायाणं ॥१२॥

उस वस्तु को छोड़ देना चाहिए जिसका निमित्त पाकर कषायाग्नि प्रज्वलित हो जाती है; किन्तु जिससे कषायों का उपशम होता है उस वस्तु का आश्रय करना चाहिए।

---

(११) भग० आ० ३४४ (१२) भग० आ० २६२

रूपसिरिगव्विदाणं जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं ।
सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्मं ॥५॥

रूप और लक्ष्मी से गर्वित, यौवन, सौंदर्य और कांति से कलित; किन्तु शील गुण रहित मनुष्यों का मनुष्य जन्म निरर्थक है।

सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहिं णिद्दिट्ठो ।
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ॥६॥

शील और ज्ञान इन दोनों में विद्वानों ने विरोध नहीं बतलाया है। इसका कारण यह है कि शील के विना संसार के विषय ज्ञान का विनाश कर देते हैं।

तरुणस्स वि वेरग्गं पण्हाविज्जदि णरस्स वुड्ढेहिं ।
पण्हाविज्जइ पाडच्छीवि हु वच्छस्स फरुसेण ॥७॥

जैसे जिसका दूध सूख गया है ऐसी भी गाय बछड़े के स्पर्श से प्रस्रावित हो जाती है अर्थात उसका दूध झरने लगता है वैसे ही तरुण मनुष्य के भी वृद्धों (विशेष ज्ञानी और तपस्वियों) की संगति से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

कुसुममगंधमवि जहा देवयसेसत्ति कीरदे सीसे ।
तह सुयणमज्झवासी वि दुज्जणो पूइओ होइ ॥८॥

जिस प्रकार गंध रहित भी फूल यह देवता की 'शेषा' है यह समझ कर माथे पर चढा लिया जाता है इसी तरह सज्जनों के मध्य रहने वाला दुर्जन भी पवित्र हो जाता है।

जहदि य णिययं दोसं पि दुज्जणो सुयणवइयरगुणेण ।
जह मेरुमल्लियंतो काओ णिययच्छविं जहदि ॥९॥

दुर्जन सज्जन की संगति के गुण से अपने दोष छोड़ देता है। जैसे मेरु का आश्रय करता हुआ कौआ अपनी छवि (रंग) को छोड़ देता है।

सुजणो वि होइ लहुओ दुज्जणसंमेलणाए दोसेण ।
माला वि मोल्लगरुया होदि लहू मडयसंसिट्ठा ॥१०॥

---

(५) शील प्रा० १५ (६) शील प्रा० २ (७) भग० प्रा० १०८३
(८) भग० प्रा० ३५१ (९) भग० प्रा० ३५० (१०) भग० प्रा० ३४५

सिद्ध परमेष्ठी, उनकी प्रतिमा, आचार्य और सर्व साधुओं की तीव्र भक्ति ही संसार के उच्छेद करने में समर्थ हो सकती है।

बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा ।
आराधणमिच्छन्तो आराधणभत्तिमकरंतो ॥५॥

जो मनुष्य आराधनाओं (ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप की साधना) की भक्ति को नहीं करता हुआ रत्नत्रय की सिद्धि को चाहता है वह बीज के बिना अनाज की और वादलों के विना वर्षा होने की इच्छा करता है।

तेसिं आराधणणायगाण ण करिज्ज जो णरो भत्तिं ।
धत्तिं पि संजमंतो सालिं सो ऊसरे ववदि ॥६॥

जो मनुष्य सयम को धारण करता हुआ भी उन आराधना के नायकों की भक्ति नहीं करता वह ऊसर जमीन में अनाज बोता है।

विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य ।
किह पुण णिव्वुदिबीजं सिज्झहिदि अभत्तिमंतस्स ॥७॥

विद्या भी भक्तिमान को ही सिद्ध होती है और फल देती है तब फिर भक्ति रहित मनुष्य के निर्वाण के बीज रत्नत्रय की कैसे सिद्धि हो सकती है।

जह फणिराओ रेहइ फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्तीपवयणो जीवो ॥८॥

जैसे धरणेन्द्र नामक देव अपनी फणामणियों के बीच में रहने वाले माणिक्य–लालमणि से प्रकाशमान होकर सुशोभित होता है इसी तरह सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला जिनभक्त शोभा को प्राप्त होता है।

एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेण ।
पुण्णापि य पूरेदुं आसिद्धिपरंपरसुहाणं ॥९॥

अकेली ही वह जिन भक्ति दुर्गति के निवारण करने में समर्थ है। वह प्रचुर पुण्य को उत्पन्न करती है और मुक्ति की प्राप्ति तक सुखों का कारण बनी रहती है।

---

(५) भग० आ० ७५० (६) भग० आ० ७४९ (७) भग० आ० ७४८
(८) भाव पा० १४३ (९) भग० आ० ७४६

अध्याय ११

भक्ति

[इस अध्याय में भक्ति की महत्ता बताई गई है। भक्ति का जीवन में बहुत महत्त्व है। उससे मनुष्य को आत्म-शांति प्राप्त होती है। इस नानाविध कष्टों से भरे संसार में भक्ति मनुष्य की असाधारण सहायक बन सकती है। इस अध्याय में पाठक भक्ति की विशेषता का अध्ययन करें।]

अरहंतसिद्धचेदियपवयणआयरियसव्वसाहूसु ।
तिव्वं करेहि भत्ती णिव्विदिगिंच्छेण भावेण ॥१॥

(हे मनुष्य!) अरहंत (जीवन्मुक्त) सिद्ध (पूर्णमुक्त) और उनके प्रतिबिम्ब, प्रवचन (भगवान की वाणी), आचार्य (साधु संस्था के शासक) और सर्व साधु इन सबकी ग्लानि रहित भाव से अच्छी तरह भक्ति कर।

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं ।
तह अरहादिगभत्ती णाणचरणदंसणतवाणं ॥२॥

विधि पूर्वक बोये हुए शस्य (बीज) की जैसे वर्षा से उत्पत्ति होती है वैसे ही अरहंत इत्यादिकों की भक्ति से ज्ञान, चारित्र, दर्शन और तप की उत्पत्ति होती है।

अरहंतभत्तियाइसु सुहोवओगेण आसवइ पुण्णं ।
विवरीएण दु पावं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि ॥३॥

भगवान ने कहा है कि अरहंत की भक्ति आदि क्रियाओं में शुभोपयोग होने से पुण्य का आस्रव होता है और उससे विपरीत (अशुभपयोग) से पाप का आस्रव।

तह सिद्धचेदिए पवयणे य आइरियसव्वसाहूसु ।
भत्ती होदि समत्था संसारुच्छेदणे तिव्वा ॥४॥

---

(१) भग० मा० ७४४ (२) भग० मा० ७५१ (३) वसु० श्रा० ४० (४) भग० मा० ७४७

अध्याय १२

धर्म

[इस अध्याय में धर्म तत्त्व का प्रतिपादन है। धर्म मानव जीवन की महत्ता है। उसके बिना जीवन व्यर्थ है। धर्म आत्मा की वह शक्ति है जो उसमें आनंद का स्रोत बहा देती है। जिसके अभ्यंतर में धर्म की पावन प्रेरणा नहीं है उसे कभी शांति न मिलेगी। जीवन में जो कुछ प्रशस्त, आदरणीय, शिव और सुन्दर है उसका सारा श्रेय धर्म को है। धर्म जीवन की खुराक है। इस अध्याय के अध्ययन से वह खुराक पाठकों को प्राप्त होगी।]

धर्म की महत्ता

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं ॥१॥

धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है।

जरामरणवेगेण, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइठा य, गई सरणमुत्तमं ॥२॥

जरा और मरण के वेग से बहने वाले प्राणियों के लिए धर्म ही एक मात्र द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।

जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई ।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जन्ति राइओ ॥३॥

जो रात चली जाती है वह लौट कर नहीं आती। जो धर्म करता है उसी की रात्रियाँ सफल होती हैं।

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥४॥

जब तक बुढ़ापा आकर पीड़ित न करे, शरीर में व्याधि न बढ़े और इंद्रियों की शक्ति क्षीण न हो, तब तक तू धर्म (कर्त्तव्य) का आचरण करले।

---

(१) दशवै० १-१ (२) उत्तरा० २३-६८ (३) उत्तरा० १४-२५
(४) दशवै० ८-३६

संवेगजणिदकरणा णिस्सल्ला मंदरोव्व णिक्कंपा ।
जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भवं णत्थि संसारे ॥१०॥

संसार से डरने के कारण जिसकी उत्पत्ति हुई है, जो माया, मिथ्यात्व और निदान (आसक्ति अथवा भोगों की आकांक्षा) इन तीन प्रकार के शल्यों से रहित है ऐसी जिसकी जिन भक्ति सुमेरु पर्वत की तरह निष्कंप है उसका संसार में जन्म नहीं होगा।

---

(१०) भग० आ० ७४५

आर्जव

जो चिंतेइ ण वंकं कुणदि ण वंकं ण जंपए वंकं ।
ण य गोवदि णियदोसं अज्जवधम्मो हवे तस्स ॥१०॥

जो बांका (कुटिल) नहीं सोचता है, बांका (कुटिल) काम नहीं करता है, और बांका (कुटिल) नहीं बोलता है एवं अपने दोष कभी नहीं छिपाता है उसके आर्जव धर्म होता है ।

शौच

समसंतोसजलेण य जो धोवदि तिह्लोहमलपुंजं ।
भोयणगिद्धिविहीणो तस्स सुचित्तं हवे विमलं ॥११॥

जो समभाव एवं संतोष रूप जल से तृष्णा और लोभ रूप मैल के पुंज को धो देता है तथा भोजन की गृद्धता से रहित है उसके निर्मल शौच धर्म होता है ।

स

जलचंदणससिमुत्ताचंदमणी तह णरस्स णिव्वाणं ।
ण करंति कुणइ जह अत्थज्जुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥१२॥

जल, चदन चांद, मोती और चांदनी मनुष्य को उस प्रकार शांति उत्पन्न नहीं करते जिस प्रकार अर्थयुक्त, हितकारी, मधुर और परिमित वचन शांति उत्पन्न करता है ।

संयम

जो जीवरक्खणपरो गमणागमणादिसव्वकम्मेसु ।
तणछेदं पि ण इच्छदि संजमभावो हवे तस्स ॥१३॥

जीवों की रक्षा करने में तत्पर जो मनुष्य जाने आने आदि सम्पूर्ण कार्यों में तृण के छिदने को भी ठीक नहीं समझता उसके संयम धर्म होता है ।

तप

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए ।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ॥१४॥

---

(१०) कार्तिके० ३९६ (११) कार्तिके० ३९७ (१२) भग० आ० ८३५
(१३) कार्तिके० ३९९ (१४) षट् प्रा० द्वा० ७७

धर्म का स्वरूप

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो ।
संसारतरणहेदु धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥५॥

रागादि सकल दोषों से रहित और अपने आपमें रत तथा संसार से तरने का हेतु जो आत्मा है उसे भगवान जिनेन्द्र ने धर्म कहा है ।

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥६॥

पदार्थ का स्वभाव ही धर्म है । उत्तम क्षमा आदि आत्मा के दश प्रकार के स्वभाव धर्म हैं । सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म है और जीवों की रक्षा करना धर्म है ।

धर्म के भेद

खंतीमद्दवअज्जवलाघवतवसंजमो अकिंचणदा ।
तह होइ बह्मचेरं सच्चं चागो य दसधम्मा ॥७॥

क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव (शौच), सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दस धर्म हैं ।

क्षमा

कोहेण जो ण तप्पदि सुरणरतिरिएहिं कीरमाणे वि ।
उवसग्गे वि रउद्दे तस्स खिमा णिम्मला होदि ॥८॥

देव, मनुष्य और तिर्यंचों के द्वारा रौद्र (घोर) उपसर्ग किये जाने पर भी, जो क्रोध से तप्त नहीं होता उसके निर्मल क्षमा होती है ।

मार्दव

कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किं चि ।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स ॥९॥

जो श्रमण कुल, रूप, जाति, ज्ञान, तप, शास्त्र, और शील का कुछ भी अभिमान नहीं करता उसके मार्दव धर्म होता है ।

---

(५) भाव पा० ८३ (६) कार्तिके० ४७६ (७) मूला० ७५२
(८) कार्तिके० ३९४ (९) षट् प्रा० द्वा० ७२

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती ।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥२०॥

धर्म से ही लिंग (भेष) धारण करने का उपयोग है। केवल भेष धारण करने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती। तू भाव धर्म जानने की कोशिश कर। बाह्य भेष से क्या करना है ?

कधं चरे ? कधं चिट्ठे ? कधमासे ? कधं सये ?
कधं भुंजेज्ज भासिज्ज पावं कम्मं ण वज्झदि ॥२१॥

कैसे चले ? कैसे खड़े हो ? कैसे बैठे ? और कैसे सोये ? किस तरह खाता हुआ और बोलता हुआ मनुष्य पाप कर्म को नहीं बांधता ?

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये ।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण वज्झई ॥२२॥

संयम से (विवेक से) चले, संयम से ठहरे, संयम से बैठे, संयम से सोए। संयम से खाता हुआ और बोलता हुआ मनुष्य पाप कर्म का बन्ध नहीं करता है।

गंतूण णंदणवणं अमयं छंडिय विसं जहा पियइ ।
माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥२३॥

जैसे नंदन वन में जाकर कोई अमृत को छोड़ कर विष पीता है इसी प्रकार मनुष्य भव में भी धर्म को छोड़ कर यह मनुष्य भोगों की अभिलाषा करता है।

धुट्टिय रयणाणि जहा रयणद्दीवा हरेज्ज कट्ठाणि ।
माणुसभवे वि धुट्टिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥२४॥

जैसे रत्न द्वीप से रत्नों को इकट्ठा करना छोड़ कर (कोई) काष्ठों को इकट्ठा करता है, इसी तरह यह जीव मनुष्य भव में धर्म को छोड़ कर भोगों की अभिलाषा करता है।

---

(२०) लिंग पा० २ (२१) मूला० १०१२ (२२) मूला० १०१३
(२३) भग० आ० १८३२ (२४) भग० आ० १८३१

जो ध्यान की सिद्धि के लिए विषय और कषायों का निग्रह करके आत्मा का चिंतन करता है उसीके नियम से तप होता है।

त्याग

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥१५॥

जिनेन्द्र ने कहा है कि सब द्रव्यों में मोह का त्याग कर जो मन, वचन और काय से निर्वेद की भावना करता है उसीके त्याग धर्म होता है।

आकिंचन्य

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं ।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं ॥१६॥

जो अनागार निःसंग होकर सुख दुःख का निग्रह करने के लिए अपने निजभाव से रागद्वेष रहित प्रवृत्ति करता है उसके आकिञ्चन्य धर्म होता है।

ब्रह्मचर्य

जो ण वि जादि वियारं तरुणियणकडक्खवाणविद्धो वि ।
सो चेव सूरसूरो रणसूरो णो हवे सूरो ॥१७॥

जो स्त्रियों के कटाक्ष वाणों से विद्ध होकर विकार को प्राप्त नहीं होता है वह बहादुरों में भी बहादुर है। जो रण शूर है वह शूर नहीं है।

एसो दहप्पयारो धम्मो दहलक्खणो हवे णियमा ।
अण्णो ण हवदि धम्मो हिंसा सुहमा वि जत्थत्थि ॥१८॥

यह दस प्रकार का धर्म ही नियम से दशलक्षण धर्म कहलाता है। अन्य कोई भी धर्म नहीं है जहां कि किंचिन्मात्र भी हिंसा है।

हिंसारंभो ण सुहो देवणिमित्तं गुरूण कज्जेसु ।
हिंसा पावंति मदो दयापहाणो जदा धम्मो ॥१९॥

चाहे देवताओं के लिए और चाहे अतिथि आदि गुरुओं के लिए हो, हिंसा करना शुभ नहीं है। क्योंकि हिंसा का दूसरा नाम पाप है, धर्म तो दया प्रधान होता है।

---

(१५) षट् प्रा० द्वा ७८ (१६) षट् प्रा० द्वा० ७९ (१८) कार्तिके० ४०४
(१९) कार्तिके० ४०५

जन्म मरण के साथ, यौवन जरा के साथ और लक्ष्मी विनाश के साथ लगी हुई है। इस प्रकार सबको विनाशशील समझो।

ता भुंजिज्जउ लच्छी दिज्जउ दाणं दयापहाणेण ।
जा जलतरंगचवला दोतिण्णदिणाणि चिट्ठेइ ॥५॥

उस लक्ष्मी को काम में लो और उसका दयाप्रधान होकर दान दो वह जो (लक्ष्मी) जल की तरंगों की तरह चपल है और दो तीन दिन ही ठहरती है।

चइऊण महामोहं विसये मुणिऊण भंगुरे सव्वे ।
णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहइ ॥६॥

महा मोह को छोड़कर और सारे पदार्थों को विनाशशील समझकर अपने मन को निर्विषय बनाओ जिससे उत्तम सुख प्राप्त हो।

अशरण भावना

जह आइच्चमुदेंतं कोई वारंतउ जगे णत्थि ।
तह कम्ममुदीरंतं कोई वारंतउ जगे णत्थि ॥७॥

जैसे जगत में उगते हुए सूर्य को कोई नहीं रोक सकता वैसे ही उदय में आये हुए कर्म को कोई नहीं रोक सकता।

सीहतिमिंगिलगहिदस्स णत्थि मच्छो मगो व जध सरणं ।
कम्मोदयम्मि जीवस्स णत्थि सरणं तहा कोई ॥८॥

जैसे सिंह एवं महामत्स्य के द्वारा पकड़े हुए प्राणी का कोई पशु अथवा मत्स्य शरण नहीं हो सकता इसी प्रकार कर्म का उदय होने पर जीव का कोई शरण नहीं हो सकता।

रोगाणं पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स समुदिण्णे।
रोगाणं पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमंते ॥९॥

कर्मों का उदय सन्मुख हो तब मनुष्य के रोगों का प्रतिकार नहीं हो सकता। कर्म के उपशांत होने पर ही रोगों का प्रतिकार हो सकता है।

---

(५) कार्तिके० १२ (६) कार्तिके० २२ (७) भग० आ० १७४०
(८) भग० आ० १७४५ (९) भग० आ० १७४२

अध्याय १३

वैराग्य

[इस अध्याय में संसार से वैराग्य उत्पन्न करने वाली बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का वर्णन है। किसी वस्तु का बार २ चिंतन करना अनुप्रेक्षा कहलाती है। अनुप्रेक्षाओं से कर्मों का संवर (आते हुए कर्मों का रुकना) होता है इसलिए मोक्ष मार्ग में इनका बहुत महत्त्व है।]

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोयमसुइत्तं ।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोधिं च चिंतिज्ज ॥१॥

अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्ज्जरा, धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओं का विचार करना चाहिये।

अध्रुवभावना

हिमणिचओ वि व गिहसयणासणभंडाणि होंति अधुवाणि ।
जसकित्ती वि अणिच्चा लोए संज्झब्भरागोव्व ॥२॥

बर्फ के टुकड़े के समान घर, शय्या, आसन और बर्तन आदि सभी अनित्य हैं। संध्या की ललाई की तरह यश कीर्त्ति भी दुनिया में अनित्य है।

जं किंपिवि उप्पण्णं तस्स विणासो हवेइ णियमेण ।
परिणामसरूवेण वि ण य किंपि वि सासयं अत्थि ॥३॥

दुनियां में जो कुछ उत्पन्न हुआ है उसका नियम से विनाश होता है। पदार्थ का स्वभाव बदलना है; इसलिये परिवर्त्तन की दृष्टि से कोई भी वस्तु नित्य नहीं है।

जम्मं मरणेण समं संपज्जइ जुव्वणं जरासहियं ।
लच्छी विणाससहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥४॥

---

(१) भग० आ० १७१५ (२) भग० आ० १७२७ (३) कार्त्तिके० ४
(४) कार्त्तिके० ५

मानसिक दुःख से तप्त होता है। बेचारा अकेला ही मरता है और अकेला ही नरक के दुःख सहता है।

पावं करेदि जीवो बंधवहेदुं सरीरहेदुं च।
णिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि ॥१५॥

यह जीव बांधवों के लिए और शरीर के लिए पाप करता है, किन्तु उस पाप का फल नरकादि गतियों में वह अकेला ही भोगता है।

सव्वायरेण जाणह इक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं।
जम्हि दु मुणिदे जीवे होइ असेसं खणे हेयं ॥१६॥

पूरे आदर से शरीर से भिन्न आत्मा को जानो। जिसके जान लेने पर क्षणभर में उसके अतिरिक्त सभी वस्तुएं हेय हो जाती हैं।

अन्यत्व भावना

एवं वाहिरदव्वं जाणदि रूवा हु अप्पणो भिण्णं।
जाणतो वि हु जीवो तत्थेव य रच्चदे मूढ ॥१७॥

इस प्रकार यह जीव आत्मा के स्वरूप से बाह्य द्रव्य को जान तो लेता है फिर भी हिताहित विवेक रहित होने के कारण उसी में रचा रहता है।

अण्णं देहं गिल्हदि जणणी अण्णा य होदि कम्मादो।
अण्णं होदि कलत्तं अण्णो वि य जायदे पुत्तो ॥१८॥

अपने उपार्जित कर्मों से यह जीव अपने से भिन्न शरीर को धारण करता है। अपने से भिन्न उसकी माता होती है। अपने से भिन्न स्त्री होती है और भिन्न ही पुत्र होता है।

संसारम्मि अणंते सगेण कम्मेण हीरमाणाणं।
को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणम्मि जणो ॥१९॥

अनन्त संसार में अपने २ कर्मों से आकृष्यमाण जीवों में कौन किसका स्वजन हो सकता है? यह मनुष्य मोह के कारण दूसरे मनुष्य में आसक्त हो जाता है।

जो जाणिऊण देहं जीवसरूपादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ॥२०॥

---

(१५) भग० आ० १७४७ (१६) कार्तिके० ७९ (१७) कार्तिके० ८१
(१८) कार्तिके० ८० (१९) भग० आ० १७५५ (२०) कार्तिके० ८२

विज्जोसहमंतबलं बलवीरिय अस्सहत्थिरहजोहा ।
सामादिउवाया वा ण होंति कम्मोदए सरणं ॥१०॥

कर्म का उदय होने पर विद्या बल, औषधि बल, मंत्र बल, बल और वीर्य, घोड़े, हाथी, रथ और योद्धा तथा साम, दाम, दण्ड और भेद ये चारों उपाय भी शरण नहीं होते (काम नहीं आते)।

[विद्या और मंत्र में यह भेद है कि विद्या स्वाहाकार सहित होती है और मंत्र स्वाहाकार रहित। इसी प्रकार बल और वीर्य में यह फर्क है कि आत्मा की शक्ति वीर्य और आहार तथा व्यायाम आदि से उत्पन्न होने वाली शरीर की दृढ़ता बल कहलाती है]।

दंसणणाणचरित्तं तवो य ताणं च होइ सरणं च ।
जीवस्स कम्मणासणहेदु कम्मे उदिण्णम्मि ॥११॥

जीव के कर्मनाश के कारण उसके दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप हैं इसलिए कर्म के उदय होने पर यही जीव के शरण हो सकते हैं।

अप्पाणं पि य शरणं खमादिभावेहिं परिणदं होदि ।
तिव्वकसायाविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण ॥१२॥

क्षमा आदि निज भावों से परिणत जो आत्मा है वही शरण है क्योंकि तीव्र कषायों से आविष्ट आत्मा तो अपना ही हनन करता है, वह दूसरों का क्या शरण हो सकता है ?

एकत्व भावना

इक्को जीवो जायदि इक्को गब्भम्मि गिह्लदे देहं ।
इक्को बालजुवाणो इक्को वुड्ढो जरागहिओ ॥१३॥

जीव अकेला ही पैदा होता है। गर्भ में अकेला ही देह को धारण करता है। अकेला ही बच्चा और अकेला ही जवान तथा जराग्रस्त (बुड्ढा) होता है।

इक्को रोई सोई इक्को तप्पेइ माणसे दुक्खे ।
इक्को मरदि वराओ णरयदुहं सहदि इक्को वि ॥१४॥

अकेला ही रोगी होता है और अकेला ही शोकी तथा अकेला ही

---

(१०) भग० पा० १७३६ (११) भग० पा० १७४६ (१२) कार्तिके० ३१
(१३) कार्तिके० ७४ (१४) कार्तिके० ७५

अज्ञान से जिसकी आंखें मिची हैं ऐसा विचारा संसारी जीव अनेक दुःख रूपी आवर्त्त वाली और पाप से कलुषित संसाररूपी नदी में चिरकाल तक भ्रमण करता है।

लोक भावना

सरिसीए चंदिगाये कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो ।
सरिसे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई ॥२६॥

चांदनी समान होने पर भी जैसे कृष्ण पक्ष द्वेष्य (बुरा) और शुक्लपक्ष प्रिय होता है वैसे ही आचरण समान होने पर भी कोई प्रिय और कोई अप्रिय होता ।

कारी होइ अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगम्मि ।
कारी वि जणसमक्खं होइ अकारी सपडिभोगो ॥२७॥

लोक में पुण्यहीन मनुष्य अपराध नहीं करता हुआ भी लोगों के सामने अपराधी कहलाता है और पुण्यवान जीव अपराध करता हुआ भी अपराधी नहीं कहलाता।

विज्जू व चंचलं फेणदुव्बलं वाधिमहियमच्चुहदं ।
णाणी किह पेच्छंतो रमेज्ज दुक्खुद्धुदं लोगं ॥२८॥

बिजली के समान चंचल, फेन की तरह दुर्बल (निःसार), व्याधियों से मथित, दुःखों से कंपित और मृत्यु से उपद्रुत लोक को देखता हुआ ज्ञानी कैसे उसमें रति कर सकता है।

अशुचि भावना

सुट्ठु पवित्तं दव्वं सरससुगंधं मणोहरं जं पि ।
देहणिहित्तं जायदि घिणावणं सुट्ठु दुग्गंधं ॥२९॥

अत्यंत पवित्र, अच्छे रस और अच्छी गंध वाला मनोहर पदार्थ भी शरीर से स्पृष्ट होने पर अत्यंत दुर्गंधवाला और घृणाजनक हो जाता है।

इंगालो धोव्वंतो ण सुद्धिमुवयादि जह जलादीहिं ।
तह देहो धोव्वंतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं ॥३०॥

जैसे कोयला जलादि के द्वारा धोने पर भी शुद्ध नहीं होता वैसे ही शरीर भी जलादि के द्वारा धोये जाने पर शुद्धि को प्राप्त नहीं होता।

(२६) भग० आ० १८१० (२७) भग० आ० १८०९ (२८) भग० आ० १८१२
(२९) कार्तिके० ८४ (३०) भग० आ० १८१७

जो जीव के स्वरूप से देह को वस्तुतः भिन्न समझकर अपने आत्मा की उपासना करता है उसीका अन्यत्व भावना को समझना कार्यकारी है।

संसार भावना

एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो ।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि वहुवारं ॥२१॥

जीव एक शरीर को छोड़ता है और दूसरे नये २ शरीर ग्रहण करता है। फिर २ अनेक वार अन्य अन्य शरीर छोड़ता है और ग्रहण करता है।

एवं जं संसरणं णाणादेहेसु हवदि जीवस्स ।
सो संसारो भण्णदि मिच्छकसायेहिं जुत्तस्स ॥२२॥

इस प्रकार मिथ्यात्व और कषायों से युक्त जीव का नाना शरीरों में जो संसरण होत है वही संसार कहलाता है।

दुविहपरिणामवादं संसारमहोदधिं परमभीमं ।
अदिगम्म जीवपोदो भमइ चिरं कम्मभण्डभरो ॥२३॥

जो शुभ और अशुभ परिणाम रूप हवा से युक्त है और परम भयंकर है ऐसे संसार रूप समुद्र को प्राप्त होकर कर्मरूप द्रव्य से भरा हुआ जीव रूप जहाज चिरकाल तक भ्रमण करता है।

ससउ वाहपरद्धो विलित्ति णाऊण अजगरस्स मुहं ।
सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥
तह अण्णाणी जीवा परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं ।
अदिगच्छंति महादुहहेदुं संसारसप्पमुहं ॥२४॥

शिकारी से पीछा किया हुआ खरगोश अजगर के मुख को यह विल है एसा समझ कर उसे शरण मानता हुआ जैसे मृत्यु के मुख में प्रवेश करता है वैसे ही अज्ञानी जीव क्षुधादि व्याध अथवा व्याघ्रों से संत्रस्त होकर महादुःख का कारण जो संसाररूपी सर्प का मुंह है उसमें प्रवेश करता है।

वहुदुक्खावत्ताए संसारणदीए पावकलुसाए ।
भमइ वरागो जीवो अण्णाणणिमीलिदो सुचिरं ॥२५॥

---

(२१) कार्तिके० ३३ (२२) कार्तिके० ३२ (२३) भग० आ० १७७१
(२४) भग० आ० १७८३ (२५) भग० आ० १७६०

सव्वत्थ वि पियवयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं ।
सव्वेसिं गुणगहणं मंदकसायाण दिट्ठंता ॥३७॥

सभी जगह प्रिय वचनों का प्रयोग करना, दुर्वचन बोलने वाले दुर्जन पर भी क्षमा करना और सबके गुणग्रहण करना ये सब मंद कषाय के दृष्टान्त हैं।

अप्पपसंसणकरणं पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्त ।
वेरधरणं च सुइरं तिव्वकसायाण लिंगाणि ॥३८॥

अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों में भी दोष ग्रहण करने का स्वभाव होना और चिरकाल तक वैर धारण करना ये सब तीव्र कषाय के चिन्ह हैं।

एवं जाणंतो वि हु परिचयणीये वि जो ण परिहरइ ।
तस्सासवाणुपिक्खा सव्वा वि णिरत्थया होदि ॥३९॥

इस प्रकार जानता हुआ जो छोड़ने योग्य है उसे भी नहीं छोड़ता है उसकी सारी आस्रवानुप्रेक्षा निरर्थक है।

संवर भावना

जो पुण विसयविरत्तो अप्पाणं सव्वदा वि संवरई ।
मणहरविसयेहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि ॥४०॥

जो फिर विषयों से विरक्त होकर, अपने आत्मा को मनोहर विषयों से संवृत (अलग) करता है उसके निश्चित ही संवर होता है।

सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं ।
एदे संवरणामा जोगाभावो तहच्चेव ॥४१॥

सम्यग्दर्शन, अणुव्रत, महाव्रत और कषायों का जीतना ये सब संवर है। इसी प्रकार योगों का अभाव भी संवर है।

निर्जरा भावना

वारसविहेण तपसा णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि ।
वेरग्गभावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स ॥४२॥

---

(३७) कार्तिके० ९१ (३८) कार्तिके० ९२ (३९) कार्तिके० ९३
(४०) कार्तिके० १०१ (४१) कार्तिके० ९५ (४२) कार्तिके० १०२

तारिसयममेज्झमयं सरीरयं किह जलादिजोगेण ।
मेज्झं हवेज्ज मेज्झं ण हु होदि अमेज्झमयघडओ ॥३१॥

ऐसा अपवित्र शरीर जलादि के योग से पवित्र कैसे हो सकता है ? अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ घड़ा कभी भी पवित्र नहीं हो सकता।

जो चिंतेइ सरीरं ममत्तजणयं विणस्सरं असुइं ।
दंसणणाणचरित्तं सुहजणयं णिम्मलं णिच्चं ॥३२॥
जो परदेहविरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुरायं ।
अप्पसरूवि सुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स ॥३३॥

जो शरीर को ममत्वजनक, विनश्वर तथा अपवित्र समझता है और दर्शन ज्ञान एवं चरित्र को सुखजनक निर्मल और नित्य मानता है तथा जो परदेह में विरक्त होता हुआ अपनी देह में भी अनुराग नहीं करता, किन्तु अपने स्वरूप में अनुरक्त रहता है उसके अशुचित्व भावना होती है।

आस्रव भावना

जम्मसमुद्दे वहुदोसवीचिए दुक्खजलयराइण्णे ।
जीवस्स परिब्भमणम्मि कारणं आसवो होदि ॥३४॥

अनेक दोष रूपी तरंगों से भरे हुए और दुःखरूप जलचरों से व्याप्त ऐसे जन्मरूपी समुद्र में जीव के परिभ्रमण का कारण आस्रव ही है।

संसारसागरे से कम्मजलमसंवुडस्स आसवदि ।
आसवणीणावाए जह सलिलं उदधिमज्झम्मि ॥३५॥

संसार रूपी सागर में जो संवर रहित जीव हैं उनके कर्मरूपी जल का आस्रव होता है, जैसे समुद्र में चूने वाली नौका में पानी का आस्रव होता है।

कम्मं पुण्णं पावं हेउं तेसिं च होंति सच्छिदरा ।
मंदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु ॥३६॥

कर्म दो प्रकार का होता है-पुण्यकर्म और पापकर्म। उन पुण्य और पाप कर्मों के कारण स्वच्छ और अस्वच्छ भाव होते हैं। मंद कषाय स्वच्छ भाव हैं और तीव्र कषाय अस्वच्छ भाव।

---

(३१) भग० आ० १८१६ (३२) कात्तिके० १११ (३३) कात्तिके० ८७
(३४) भग० आ १८२१ (३५) भग० आ० १८२२ (३६) कात्तिके० ६०

जावदियाइं कल्लाणाइं सग्गे य मणुअलोगे य ।
आवहदि ताण सव्वाणि मोक्खं सोक्खं च वरधम्मो ॥४८॥

स्वर्ग और मनुष्य लोक में जितने भी कल्याण हैं उन सबको और मोक्ष के सुख को भी श्रेष्ठ धर्म खैंच लाता है ।

बोधिदुर्लभ भावना

संसारम्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं ।
जुगसमिलासं जोगो जह लवणजले समुद्दम्मि ॥४९॥

अनंत ससार में जीवों के लिए मनुष्यत्व मिलना बहुत दुर्लभ है जैसे विशाल लवणसमुद्र में बैलों पर जोतने का काठ का जूडा और उसकी कीली का संयोग होना बहुन दुर्लभ है ।

रयणुव्व जलहिपडियं मणुयत्तं तं पि होइ अइदुलहं ।
एवं सुणिच्चइत्ता मिच्छकसायेय वज्जेह ॥५०॥

समुद्र में पड़े हुए रत्न की तरह से मनुष्यत्व का मिलना बहुत दुर्लभ है ऐसा निश्चय करके मिथ्यात्व और कषायों को छोड़ो ।

मणुअगईए वि तओ मणुअगईए महव्वयं सयलं ।
मणुअगईए झाणं मणुअगईए वि णिव्वाणं ॥५१॥

मनुष्य गति में ही तप, मनुष्य गति में ही सम्पूर्ण महाव्रत, मनुष्य गति में ही ध्यान और मनुष्य गति में ही निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

इह दुलहं मणुयत्तं लहिऊण जे रमंति विसएसु ।
ते लहिय दिव्वरयणं भूइणिमित्तं पजालंति ॥५२॥

इस संसार में जो दुर्लभ मनुष्यत्व को प्राप्त कर विषयों में रमण करते हैं वे दिव्य रत्न को पाकर उसे राख के लिये जलाने जैसा प्रयत्न करते हैं ।

इय सव्वदुलहदुलहं दंसणणाणं तहा चरित्तं च ।
मुणिऊण य संसारे महायरं कुण्ह तिण्हं पि ॥५३॥

इस प्रकार संसार में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र को अत्यंत दुर्लभ जानकर इन तीनों का महान आदर करो ।

---

(४८) भग० आ० १८५६ (४९) भग० आ० १८६७ (५०) कार्तिके० २९७
(५१) कार्तिके० २९९ (५२) कार्तिके० ३०० (५३) कार्तिके० ३०१

निदान (भोगों की वांछा) रहित, अहंकार रहित ज्ञानी आत्मा के बारह प्रकार के तप के द्वारा वैराग्य भावना से कर्मों की निर्जरा होती है।

उवसमभावतवाणं जह जह वढ्ढी हवेइ साहूणं ।
तह तह णिज्झरवढ्ढी विसेसदो धम्मसुक्कादो ॥४३॥

जैसे जैसे साधुओं के उपशम भाव और तपों की वृद्धि होती रहती है वैसे वैसे कर्मों की निर्जरा की वृद्धि होती है। खास कर कर्मों की निर्जरा धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान से होती है।

रिणमोयणुव्व मण्णइ जो उवसग्गं परीसहं तिव्वं ।
पावफलं मे एदे मया वि यं संचिदं पुव्वं ॥४४॥
तस्स य सहलो जम्मो तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि ।
तस्स वि पुण्णं वड्ढइ तस्स य सोक्खं परो होदि ॥४५॥

जो तीव्र उपसर्ग और परीषह को ऋण से छुटकारा पाने की तरह समझता है और यह समझता है कि जो मैंने पहले पाप संचित किये थे उन्हीं का यह फल है। जो इस तरह सोचता है उसी का जन्म सफल है, उसी के पापों की निर्जरा होती है, उसी के पुण्य की वृद्धि होती है और उसी को उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है।

धर्म भावना

जीवो मोक्खपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी ।
भावेणुववज्जदि सो धम्मं तं तारिसमुदारं ॥४६॥

जिनके अंत में मोक्ष है ऐसी कल्याण परम्पराओं का जो जीव भागी होता है वही उस सारे सुखों के सपादन में समर्थ महान धर्म को भाव से-यथार्थ रूप में-प्राप्त होता है।

धम्मेण होदि पुज्जो दिस्ससणिज्जो पिओ जसंसी य ।
सुहसज्झो य णराणं धम्मो मणणिव्वुदिकरो य ॥४७॥

धर्म से मनुष्य पूजनीय होता है, विश्वसनीय और यशस्वी हो जाता है और वह धर्म मनुष्यों के लिये सुख साध्य है अर्थात् उसके पाने में कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि वह तो केवल शुभ परिणामों से साध्य है। धर्म ही मन को शांति देने वाला है।

---

(४३) कार्तिके० १०५ (४४) कार्तिके० ११० (४५) कार्तिके० ११३
(४६) भग० आ० १८५७ (४७) भग० आ० १८५८

प्रव्रज्या ऐसी होती है कि उसमें उत्तम और मध्यम घर एवं दरिद्र और धनी का विचार किये बिना सब जगह आहार ग्रहण कर लिया जाता है।

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५॥

प्रव्रज्या ऐसी होती है कि उसमें सांसारिक पदार्थों से न स्नेह होता है, न लोभ और न आसक्ति। उसमें विकार, पाप, भय और आशा-लालसा भी नहीं होती।

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुअणिराउहा संता।
परकियनिलयनिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥६॥

प्रव्रज्या ऐसी होती है कि उसका रूप (भेष) उत्पन्न हुए बालक के समान होता है, उसमें प्रायः अवलंबित भुज अर्थात कायोत्सर्ग (खड़े होकर ध्यानावस्थित होना) मुद्रा होती है, जो किसी भी प्रकार के आयुध से रहित और शान्त होती है। उसमें प्रव्रजित का कोई घर नहीं होता; किन्तु दूसरों के द्वारा बनाये हुए वसतिका आदि में ही ठहरना होता है।

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रुक्खा।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥७॥

प्रव्रज्या ऐसी होती है कि उसमें गर्व, राग और द्वेष नहीं होता, उसमें किसी प्रकार से शरीर का संस्कार भी नहीं होता। वह रूक्ष अर्थात् तैल आदि पदार्थों के संपर्क से रहित होती है और वह उपशम (मनोविजय) क्षमा और दम (जितेन्द्रियता) से संयुक्त होती है।

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थेइ।
सिलकट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ ॥८॥

प्रव्रज्या उपसर्ग (मनुष्य तिर्यंच आदि के द्वारा किया गया उत्पात) और परीषह (भूख प्यास आदि की बाधा) को सहने वाली होती है। उसमें सदा श्रमण निर्जन प्रदेश में ही ठहरता है और शिला, काठ तथा भूमितल आदि सभी जगह, (कहीं भी) आरूढ हो जाता है अर्थात बैठजाता है और सो जाता है।

(५) बोध पा० ५० (६) बोध पा० ५१ (७) बोध पा० ५२
(८) बोध पा० ५६

अध्याय १४

श्रमण

[जैन शास्त्रों में दो प्रकार के साधक माने गये हैं:- गृहस्थ और श्रमण। कर्म बंधन के पूर्णत: विनाश के लिए जो श्रम करते हैं वे श्रमण कहलाते हैं। वे संसार से विरक्त होते हैं। उन्हें ही मुनि, अनगार, योगी आदि नामों से कहा जाता है। इस अध्याय में श्रमण जीवन से संबंधित गाथाओं का संक्षेप में संग्रह किया गया है।]

श्रमण दीक्षा का स्वरूप

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य ।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥१॥

जो तप, व्रत और मूलगुणों से निर्मल है, जो संयम, सम्यक्त्व और उत्तरगुणों से विशुद्ध है और जो गुणों के द्वारा शुद्ध होने के कारण ही शुद्ध है, वही प्रव्रज्या (दीक्षा) कही गई है।

सत्तूमित्ते व समा पसंसणिंदाअलद्धिलद्धिसमा ।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥२॥

प्रव्रज्या ऐसी होती है कि जिसमें शत्रु और मित्र, प्रशंसा और निंदा, लाभ और अलाभ एवं तृण और सुवर्ण में समान भाव हो।

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा ।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥३॥

प्रव्रज्या ऐसी होती है कि इसमें किसी तरह का परिग्रह नहीं होता और न बाह्य पदार्थों में किसी प्रकार की आसक्ति। इसमें अभिमान नहीं होता, तृष्णा नहीं होती, न राग होता है और न द्वेप तथा जिसमें ममकार और अहंकार भी नहीं होता।

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे निरावेक्खा ।
सव्वत्थगिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४॥

---

(१) बोध पा० ४८ (२) बोध पा० ४७ (३) बोध पा० ४९ (४) बोध० पा० ४८

सयं तिवायए पाणे अदुवऽन्नेहिं घायए ।
हणन्तं वाऽणुजाणाइ वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥१४॥

जो स्वयं प्राणियों की हिंसा करता है अथवा दूसरों से करवाता है अथवा हिंसा करते हुए की अनुमोदना करता है वह संसार में अपने लिए वैर की वृद्धि करता है।

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥१५॥

भय और वैर से उपरत हुए मनुष्य को जीवन के प्रति ममता रखने वाले सभी प्राणियों को सर्वत्र अपने ही समान जानकर किसी भी प्राणी की कभी भी हिंसा नहीं करनी चाहिए।

एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंच ण ।
अहिंसा समयं चैव एयावन्तं वियाणिया ॥१६॥

ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करे, यही अहिंसा का सिद्धान्त है, इतना ही अहिंसा का विज्ञान है।

आदाणे णिक्खेवे वोसरणे ठाणगमणसयणेसु ।
सव्वत्थ अप्पमत्तो दयावरो होदु हु अहिंसो ॥१७॥

किसी चीज को उठाकर लेना, उसे कहीं रखना, छोड़ना, खड़े होना, चलना, शयन करना आदि कार्य करते समय सर्वत्र अप्रमत्त होकर जो दया में तत्पर होता है वही अहिंसक है।

काएसु णिरारंभे फासुगभोजिम्मि णाणहिदयम्मि ।
मणवयणकायगुत्तिम्मि होइ सयला अहिंसा तु ॥१८॥

जो निरारंभ होगया है, प्रासुक (निर्जीव) भोजी है, ज्ञान ध्यान में लवलीन रहता है, मन वचन काय को वश में किये हुए है उसी में अहिंसा फलवती होती है।

जावइयाइं दुक्खाइं होंति लोयम्मि चदुगदिगदाइं ।
सव्वाणि ताणि हिंसाफलाणि जीवस्स जाणाहि ॥१९॥

संसार में चार गतियों (देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी) में जीव को जितने भी दुःख होते हैं वे सब हिंसा के फल हैं; ऐसा जानो।

---

(१४) महा० वा० १३ (१५) उतरा० ६-७ (१६) महा० वा० १८
(१७) भग० आ० ८१८ (१८) भग० आ० ८१९ (१९) भग० आ० ८००

से हु एगे संविद्धपहे मुणी अन्नहालोग मुवेहमाणे ।
इय कम्मं परिगणाय सव्वसो से न हिंसइ संजमई नो पगब्भइ ॥९॥

जो संसार को अन्यथा दृष्टि से देखता हुआ मुक्ति के मार्ग में दृढ़ रहता है वही अनन्य मुनि है। सर्व प्रकार से कर्मों के स्वरूप को जानकर वह हिंसा नहीं करता संयम रखता है और धृष्टता नहीं करता।

हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरइ अदत्ताविरई य ।
तुरयं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य ॥१०॥

हिंसा की विरति स्वरूप अहिंसा, असत्य की विरति स्वरूप सत्य, अदत्त ग्रहण की विरति स्वरूप अचौर्य, अब्रह्म की विरति स्वरूप ब्रह्म, और परिग्रह की विरति स्वरूप अपरिग्रह; ये पांच श्रमणों के महाव्रत हैं।

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं ।
जं च महल्लाणि तदो महल्लया इत्ताहे ताइं ॥११॥

जिनका महान पुरुष साधन करते हैं, पहले भी जिनकी साधना महान पुरुषों ने की है और जो स्वयं भी महान हैं इन्हीं कारणों से उन्हें महाव्रत कहते हैं।

जम्हा असच्चवयणादिएहिं दुक्खं परस्स होदित्ति ।
तप्परिहारो तह्मा सव्वे वि गुणा अहिंसाए ॥१२॥

क्योंकि असत्य वचनादिकों से अर्थात् असत्य बोलने से, नहीं दी हुई वस्तु के लेने से, मैथुन के सेवन करने से और परिग्रह से दूसरे को दुःख होता है और अहिंसा के पालन करने से इनका त्याग होजाता है; इसलिए सत्य वचनादिक अहिंसा के ही गुण हैं।

जावन्ति लोए पाणा, तसा अहुवा थावरा ।
ते जाणमजणं वा न हणे नो वि घायए ॥१३॥

दुनियां में जितने त्रस (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) और स्थावर (सिर्फ एक स्पर्शन इंद्रिय वाले) जीव हैं उन्हें जानकर या अजान कर; न स्वयं मारे और न दूसरे से उनका घात करवावे।

---

(९) आचार० सू० ५-३५ (१०) चारित्र पा० २९ (११) चारित्र पा० ३०
(१२) भग० आ० ७९१ (१३) दशवै० ६-१०

राग से, द्वेष से अथवा मोह से प्रयुक्त असत्य भाषण रूप परिणाम को जो साधु सदा के लिए छोड़ देता है उसी के दूसरा महाव्रत होता है।

अप्पणट्ठा परट्ठा वा कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥२५॥

अपने लिए एवं दूसरों के लिए क्रोध अथवा भय से किसी को पीड़ा पहुँचाने वाला असत्य वचन न स्वयं बोले और न दूसरों से बुलवावे।

सवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी, गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए, सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥२६॥

मुनि को अपनी वाक्य शुद्धि का खयाल करके सदा के लिए दुष्ट-वाणी का त्याग कर देना चाहिए। परिमित, दोष रहित और शास्त्रानुसार वाणी बोलना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य सब के बीच प्रशंसा को प्राप्त होता है।

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं वियंजियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥२७॥

आत्मवान साधक को दृष्ट (यथार्थ) परिमित, संदेह रहित, परिपूर्ण, स्पष्ट, वाचालता रहित और किसी को उद्विग्न नहीं करने वाली भाषा बोलनी चाहिये।

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥२८॥

इसी तरह जो भाषा कठोर हो, दूसरों को भारी दुःख पहुँचाने वाली हो, भले ही सत्य हो; नहीं बोलना चाहिये क्यों कि उससे पाप का आस्रव होता है।

कक्कस्सवयणं णिट्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च ।
जं किं चि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण ॥२९॥

कर्कश वचन, निष्ठुर वचन, पैशुन्य वचन और हास्य वचन और जो कुछ भी विप्रलाप वचन है वह संक्षेप से गर्हित वचन है।

---

(२५) दशवै० ६-१२ (२६) दशवै० ७-५५ (२७) दशवै० ८-४९
(२८) दशवै० ७-११ (२९) भग० आ० ८३०

सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं ।
सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा दु ॥२०॥

अहिंसा सब आश्रमों का हृदय है। सारे शास्त्रों का गर्भ है। सारे व्रत और गुणों का पिण्डी भूत सार है।

सीलं वदं गुणो वा णाणं णिस्संगदा सुहच्चाओ ।
जीवे हिंसंतस्स हु सव्वे वि णिरत्थया होंति ॥२१॥

शील, व्रत, गुण, ज्ञान, निःसंगता और विषयों के सुख का त्याग ये सब गुण जीवों की हिंसा करने वाले मनुष्य के निरर्थक हो जाते हैं।

तह जाण अहिंसाए विणा ण सीलाणि ठंति सव्वाणि ।
तिस्सेव रक्खणट्ठं सीलाणि वदीव सस्सस्स ॥२२॥

तथा यह भी जानो कि अहिंसा के बिना सारे ही शील नहीं ठहर सकते; इसलिए उसी की रक्षा के लिए शील हैं जैसे अनाज की रक्षा के लिए बाड़ होती है।

एसा सा भगवइ जासा भीयाणं पिव सरणं ।
पक्खीणं पिव गगणं तिसीयाणं पिव सलिलं ॥
खुदियाणं पिव असणं समुदमज्झेव पोयवहणं ।
चउप्पयाणं व आसमपयं दुदट्ठियाणं च ओसदिवलं ।
अड़विमज्झेवसत्थगमणं एतो विसिट्ठत्तारिगा अहिंसा ॥२३॥

जैसे डरे हुए जीवों के लिए शरण स्थान, पक्षियों के लिए आकाश, प्यासे जीवों के लिए जल, भूखों के लिए भोजन, समुद्र में जहाज, चौपायों (गाय भैंस आदि) के लिए आश्रम, रोगियों के लिए औषधि और जंगल में सार्थवाह (साथियों का समूह) होता है वैसे ही संसार में जीवों के लिए अहिंसा भगवती होती है। अहिंसा की ऐसी ही विशेषता है।

सत्य महाव्रत

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं ।
जो पजहदि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव ॥२४॥

---

(२०) भग० आ० ७६० (२१) भग० आ० ७८६ (२२) भग० आ० ७८८
(२३) जैन० दर्शन सा० पेज ६६ (२४) नियम ५७

जह मारुवो पवट्टइ खणेण वित्थरइ अब्भयं च जहा ।
जीवस्स तहा लोभो मंदो वि खणेण वित्थरइ ॥३७॥
लोभे य वड्ढिदे पुण कज्जाकज्जं णरो ण चिंतेदि ।
तो अप्पणो वि मरणं अगणितो चोरियं कुणइ ॥३८॥

जैसे खा पीकर तृप्त हुआ भी वानर किसी लाल फूल को दूरसे देखकर उसे लेने के लिये दौड़ता है, यद्यपि वह उसे लेकर छोड़ देता है इसी प्रकार लोभाविष्ट जीव जिस जिस पदार्थ को देखता है उसको ग्रहण करने की इच्छा करता है और सर्व जगत से भी वह तृप्त नहीं होता।

जैसे वायु क्षण भर में बढ कर विस्तीर्ण हो जाता है। बादल भी क्षण भर में बढकर सारे आकाश को व्याप्त कर लेते हैं उसी प्रकार पहले जीव का लोभ मंद होने पर भी क्षण भर में विस्तीर्ण हो जाता है। लोभ के बढ जाने पर मनुष्य कार्याकार्य का विचार नहीं करता और अपने मरण का भी विचार नहीं करता हुआ वह चोरी करता है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

दट्ठूण इच्छिरूवं वांच्छाभावं णिवत्तदे तासु ।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं ॥३९॥

स्त्री के रूप को देखकर उससे विरक्त होना चौथा (ब्रह्मचर्य) व्रत है। इससे मनुष्य का भाव मैथुन संज्ञा से रहित होजाता है।

जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो ।
तं जाण बंभचेरं विमुक्कपरदेहतित्तिस्स ॥४०॥

ब्रह्म का अर्थ आत्मा है जिसने परदेह में प्रवृत्ति करना छोड़ दिया है ऐसे यति की जो आत्मा में चर्या है उसे ही तू ब्रह्मचर्य समझ।

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेई ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सई॥४१॥

जैसे प्रचुर (बहुत) इंधन वाले जंगल में हवा से प्रेरित दावाग्नि शांत नहीं होती वैसे ही इन्द्रिय रूपी आग अति भोजन करने वाले किसी भी ब्रह्मचारी के हित के लिए नहीं होती।

---

(३७) भग० आ० ८५६ (३८) भग० आ० ८५७ (३९) नियम० ५९
(४०) भग० आ० ८७८ (४१) उत्तरा० ३२-११

जह परमण्णस्स विसं विणासयं जह व जोवणस्स जरा ।
तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासयमसच्चं ॥३०॥

जैसे परमान्न अर्थात् खीर का विनाशक जहर और यौवन का विनाशक जरा होती है उसी प्रकार अहिंसा आदि गुणों का विनाशक असत्य वचन होता है।

माया व होइ विस्ससरिणज्ज पुज्जो गुरुव्व लोगस्स ।
पुरिसो हु सच्चवादी होदि हु सणियल्लओव्व पियो ॥३१॥

सत्यवादी पुरुष लोगों के लिये माता के समान, विश्वसनीय गुरु के समान पूज्य और अपने निकटतम बंधु के समान प्रिय होता है।

अचौर्य महाव्रत

गामे वा णयरे वा रण्णे वा पेछिऊण परमत्थं ।
जो मुंचदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव ॥३२॥

ग्राम अथवा नगर अथवा जंगल में दूसरे की वस्तु को देख कर जो उसके ग्रहण करने के भाव को छोड़ देता है वह उसका तीसरा अर्थात अचौर्य महाव्रत कहलाता है।

चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमित्तं पि उग्गहं से अजाइया ॥३३॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं ।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥३४॥

कोई भी वस्तु सचेतन हो या अचेतन, थोड़ी हो या अधिक, चाहे दांत खुरदने की सींक ही हो, उसके मालिक से मांगे बिना संयमी न स्वयं लेते हैं न दूसरों को लेने के लिए प्रेरणा देते हैं और न इस प्रकार लेने वालों की अनुमोदना करते हैं।

जह मक्कडओ धादो वि फलं दठ्ठूण लोहिदं तस्स ।
दूरत्थस्स वि डेवदि घित्तूण वि जइ वि छंडेदि ॥३५॥
एवं जं जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविदुं तं तं ।
सव्वजगेण वि जीवो लोभाइठ्ठो न तिप्पेदि ॥३६॥

---

(३०) भग० आ० ८४५ (३१) भग० आ० ८४० (३२) निय० ५८
(३३) दशवै० ६-१४ (३४) दशवै० ६-१५ (३५) भग० आ० ८५४
(३६) भाग आ० ८५५

लोक में जो अपरिग्रही हैं वे कम या अधिक, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी वस्तु का परिग्रह नहीं करते हैं।

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरा गंथा ॥४८॥

मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा (घृणा) ये छः दोष तथा क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय इस प्रकार ये चौदह प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रह हैं।

बाहिरसंगा खेत्तं वत्थं धणधण्णकुप्पभंडाणि।
दुपयचउप्पय जाणाणि चेव सयणासणे य तहा ॥४९॥

क्षेत्र (खेत), वास्तु (मकान), धन (सुवर्ण आदि), धान्य, कुप्य (वस्त्र, कंबल आदि), भांड (हींग मिरच आदि), द्विपद (दास दासी), चतुष्पद (गाय, भैंस आदि), यान (पालकी आदि), शय्या और आसन ये दस प्रकार का बाह्य परिग्रह है।

जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स।
तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ॥५०॥

जैसे तुष सहित तंदुल का कुण्डओ अर्थात् अंतर्मल नहीं सोधा जा सकता इसी प्रकार परिग्रह सहित जीव का भी मोह रूपी मल नहीं सोधा जा सकता।

गंथच्चाओ इंदियणिवारणे अंकुसो व हत्थिस्स।
णयरस्स खाइया वि य इंदियगुत्ती असंगत्तं ॥५१॥

परिग्रह का त्याग, हाथी के वश करने में कारण जैसे अंकुश होता है इसी प्रकार इंद्रियों के वश में करने का कारण है। जैसे खाई नगर की रक्षा का कारण है इसी प्रकार अपरिग्रह इंद्रियों को वश में करने का कारण है।

णिस्संगो चेव सदा कसायसल्लेहणं कुणदि भिक्खू।
संगी हु उदीरंति कसाए अग्गीव कट्ठाणि ॥५२॥

---

(४८) भग० आ० १११८ (४९) भग० आ० १११९ (५०) भग० आ० ११२०
(५१) भग० आ० ११६८ (५२) भग० आ० ११७५

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमंडणं ।
बंभचेररओ भिक्खु सिंगारत्थं न धारए ॥४२॥

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु का कर्तव्य है कि शरीर की शोभा और सजावट का परित्याग करदे और किसी भी शृंगार के पदार्थ को धारण न करे।

रक्खाहि बंभचेरं अब्बंभे दसविधं तु वज्जित्ता ।
णिच्चं पि अप्पमत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥४३॥

दस प्रकार के अब्रह्म को छोड़ कर पांच प्रकार के काम वैराग्य में सावधान होता हुआ तू हमेशा ब्रह्मचर्य की रक्षा कर।

कामभुजगेण दट्ठा लज्जाणिम्मोगदप्पदाढेण ।
णासंति णरा अवसा अणेयदुक्खावहविसेण ॥४४॥

काम एक प्रकार का सांप है। जब वह लज्जा रूपी कंचुक (कांचली) का त्याग कर देता है तब अनेक दुःख रूप विषों को धारण करनेवाले उस की उन्मत्तता-रूप दाढ़ से डसे हुए विवश लोग अवश्य ही विनाश को प्राप्त हो जाते हैं।

परिग्रह महाव्रत

सव्वेसिं गंथाणं तागो णिरवेखभावणापुव्वं ।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्य ॥४५॥

चारित्र के भार को धारण करने वाले मुनि के निरपेक्ष भावना पूर्वक सारे परिग्रहों का त्याग ही पांचवा व्रत (परिग्रह त्यागव्रत) कहलाता है।

लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे गिही पव्वइए न से ॥४६॥

संग्रह करना भीतर रहने वाले लोभ की झलक है; इसलिए संग्रह की इच्छा करने वाला साधु गृहस्थ है प्रव्रजित नहीं।

आवंती केयावंती लोयंसी अपरिग्गहावंती ।
एएसु चेवं अपरिग्गहावंती ॥४७॥

---

(४२) उत्तरा० १६-६ (४३) भग० आ० ८७७ (४४) भग० आ० ८६१
(४५) नियम०६० (४६) दशवै० ६-१६ (४७) आचारा० सू० २१८-२६

[मुनियों को गमन करते हुए ऊपर लिखी हुई चार शुद्धियों का खयाल रखना चाहिए। मार्ग शुद्धि का अर्थ है जिस मार्ग में त्रस जीव, हरे तृण, कीचड़, अंकुर आदि न हों वही शुद्ध है। जो प्रकाश स्पष्ट और व्यापक हो उसी प्रकाश में मुनियों को गमन करना योग्य है; जैसे सूर्य का प्रकाश। सूर्य के प्रकाश में चलना ही उद्योत शुद्धि कहलाती है। चंद्रमा और नक्षत्र आदि का प्रकाश अस्पष्ट है। प्रदीप का प्रकाश यद्यपि स्पष्ट है; किन्तु व्यापक नहीं है इसलिए श्रमण उसमें गमन नहीं करते। पैरों के उठाने और धरने में पूरा सावधान रहना उपयोग शुद्धि कहलाती है। गुरु वंदना, तीर्थ-वंदना, चैत्यवंदना, और यतिवंदना तथा अपूर्व शास्त्रार्थ का ग्रहण, संयमी के योग्य क्षेत्र को ढूंढना, वैयावृत्य करना, भव्यों को उपदेश देना आदि अनेकों कार्यों की अपेक्षा से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना आलंबन शुद्धि कहलाती है।

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स ॥५७॥

जो श्रमण दिन में जीव रहित मार्ग से युग (चार हाथ) प्रमाण जमीन को देखता हुआ आगे चलता है उसके ईर्या समिति होती है।

भाषा समिति

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।
परिचित्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स ॥५८॥

पैशून्य (चुगली), हंसी, कर्कश, परनिंदा और आत्मप्रशंसा रूप वचन को छोड़कर स्वपर हितकारी वचनों को बोलते हुए मुनि के भाषा समिति होती है।

सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं।
वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवदि सुद्धा ॥५९॥

अलीक (अर्थाभाव) आदि दोषों से रहित, निर्दोष (जो पापास्रव का कारण नहीं है) ऐसा सूत्रानुसार वचन बोलने वाले श्रमण के भाषा समिति होती है। श्रमण सत्य और असत्यमृषा (जो न झूठ हो और न सत्य) वचन बोलते हैं।

---

(५७) नियम० ६१ (५८) नियम० ६२ (५९) भग० आ० ११९२

जो परिग्रह रहित भिक्षु है वह हमेशा कषायों को कृश करता है। परिग्रह निश्चय से ही क्रोधादि कषायों को प्रदीप्त करते हैं जैसे काठ आग को।

पांच समिति और तीन गुप्ति

परिणधाणजोगजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसुगुत्तीसु।
एस चरित्ताचारो अट्ठविधो होइ णायव्वो ॥५३॥

भावों के योग से युक्त समिति और तीन गुप्तियों में जो प्रवृत्ति है वही आठ प्रकार का चारित्राचार है।

एताओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं।
रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ ॥५४॥

प्रयत्न पूर्वक धारण की गई ये आठ प्रवचन माताएं मुनि के ज्ञान, दर्शन और चरित्र की उसी प्रकार रक्षा करती हैं जिस प्रकार माता पुत्र की।

णिक्खेवणं च गहणं इरियाभासेसणा य समिदीओ।
पदिठावणियं च तहा उच्चारादीण पंचविहा ॥५५॥

संयम पूर्वक पुस्तक आदि वस्तुओं को उठाना और रखना, संयम पूर्वक चलना, संयम पूर्वक हित, मित और प्रियवचन बोलना, संयम पूर्वक आहार लेना और संयम पूर्वक योग्य स्थान में मल मूत्रादि करना ये पांच समितियां हैं और इनके क्रमशः आदान निक्षेपण समिति, ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति और प्रतिष्ठापना समिति ये पांच नाम हैं।

ईर्या समिति

मग्गुज्जोदुपओगालंबणसुद्दीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचि भणिदा इरियासमिदी पवयणम्मि ॥५६॥

मार्ग शुद्धि, उद्योत शुद्धि, उपयोग शुद्धि और आलंबन शुद्धि इस प्रकार चार शुद्धियों से गमन करते हुए मुनि के सूत्रानुसार शास्त्र में ईर्या समिति कही गई है।

---

(५३) मूला० २६७ (५४) मूला० ३३६ (५५) मूला० ३०१
(५६) भग० आ० ११९१

प्रतिष्ठापना समिति

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण ।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स ॥६३॥

दूसरे के उपरोध (रुकावट) से रहित और जहां कोई नहीं देख सके ऐसे निर्जन भूमि के प्रदेश में टट्टी, पेशाब, कफ आदि शरीर के मलों का परित्याग करना प्रतिष्ठापना समिति कहलाती है।

समिति की महत्ता

समिदिदिढणावमारुहिय अप्पमत्तो भवोदधिं तरदि ।
छज्जीवणिकायवधादिपावमगरेहिं अच्छित्तो ॥६४॥

पांच समिति रूप दृढ़ नाव पर चढ़कर अप्रमत्त हुआ साधु छः प्रकार के जीव समूह की हिंसा आदि पाप रूप मगरमच्छों से अस्पृष्ट होता हुआ संसार रूपी समुद्र को तैरता है।

एदाहिं सया जुत्तो समिदीहिं महिं विहरमाणोवि ।
हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकाआउले साहू ॥६५॥

इन पांच समितियों से सदा युक्त साधु जीव समूह से भरी हुई पृथ्वी में भ्रमण करता हुआ भी हिंसादि पापों से लिप्त नहीं होता।

पउमिणिपत्तं व जहा उदएण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं ।
तह समिदीहिं ण लिप्पदि साहू काएसुइरियंतो ॥६६॥

जैसे कमलिनी का पत्ता स्नेह गुण युक्त होने के कारण जल से लिप्त नहीं होता इसी तरह समितियों से युक्त साधु जीव निकायों में विहार करता हुआ पापों से लिप्त नहीं होता।

सरवासे वि पडंते जह दिढ़कवचो ण विज्झदि सरेहिं ।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साहू काएसु इरियंतो ॥६७॥

---

(६३) नियम० ६५ (६४) भग० आ० १८४१ (६५) मूला० ३२६
(६६) मूला० ३२७ (६७) भग० आ० १२०२

["हे देव दत्त तुम यहां आवो" यह वाक्य असत्य मृषा है क्योंकि इसे न झूठ कह सकते हैं और न सच; इसलिए कि देवदत्त का आना भविष्य पर निर्भर है। यह अनुभयात्मक भाषा कहलाती है। इस प्रकार की भाषा नौ तरह की होती है जिसका जैन शास्त्रों में विस्तार से वर्णन किया गया है। श्रमण असत्य और सत्यासत्य भाषा कभी नहीं बोलते।

आदाननिक्षेपण समिति

पोथइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयत्तंपरिणामो।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदित्ति णिद्दिठ्ठा ॥६०॥

पुस्तक और कमण्डलु आदि पदार्थों के उठाने और धरने में संयम परिणाम रखना ही आदान निक्षेपण समिति है।

सहसाणाभोगिददुप्पमज्जिय अपच्चवेषणा दोसो।
परिहरमाणस्स हवे समिदिआदाणणिक्खेवो ॥६१॥

पदार्थों के रखने और उठाने में चार दोष हो सकते हैं; उन चार दोषों को टाल कर पिच्छी, कमण्डलु आदि पदार्थों को धरना और उठाना आदान निक्षेपण समिति कहलाती है। वे चार दोष ये हैं:—सहसाख्य, अनाभोगिताख्य, दुष्प्रमृष्ट और अप्रत्यवेक्षण। बिना देखे और बिना भूमि शोधे एकाएक पुस्तकादि किसी वस्तु को उठाना या रखना सहसा नाम का दोष है। बिना देखे किन्तु भूमि शोध कर पुस्तकादि का उठाना और धरना अनाभोग नाम का दोष कहा जाता है। देखकर किन्तु अच्छी तरह भूमि नहीं शोध कर किसी वस्तु को उठाना या रखना दुष्प्रमृष्ट नाम का दोष है और देखना तथा भूमि शोधना यह दोनों काम अच्छी तरह न करना अप्रत्यवेक्षण नाम का दोष है।

एषणा समिति

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ॥६२॥

कृत, कारित और अनुमोदना रहित निर्जन तथा शास्त्रानुमोदित तथा दूसरे के द्वारा दिया गया भोजन करना एषणा समिति है।

---

(६०) नियम० ६४ (६१) भग० आ० ११९८ (६२) नियम० ६३

जैसे खेत के लिए बाड तथा नगर के लिए खाई और परकोटा होता है इसी प्रकार पापों को रोकने के लिए साधु के गुप्तियां होती हैं।

तह्मा तिविहेण तुमं मणवचिकायप्पओगजोगम्मि ।
होहि सुसमाहिदमदी णिरंतरं ज्झाणसज्झाए ॥७३॥

इसलिए मन, वचन और काय के प्रयोग से ध्यान और स्वाध्याय में प्रवृत्ति करते हुए तुम्हें हमेशा सावधान रहना चाहिए।

छः आवश्यक

समदाथओ य वंदण पाडिक्कमणं तदेह णादव्वं ।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि ॥७४॥

मुनि के लिए छः आवश्यक कार्य हैं। श्रमण इनके प्रति सदा सावधान रहे। उनके नाम हैं:-समता, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। जीना और मरना, लाभ और अलाभ, संयोग और वियोग शत्रु और मित्र एवं सुख और दुःख इत्यादिक द्वंद्वों में समान भाव रखना समता है। ऋषभादि चौवीस तीर्थंकरों को उनके असाधारण गुणों का कीर्तन करते हुए मन, वचन एवं काय से प्रणाम करना एवं उनका स्तवन करना; स्तव कहलाता है। अरहंत, सिद्ध तथा उनकी प्रतिमाओं एवं आचार्यादि गुरुओं को मन, वचन तथा काय की शुद्धि पूर्वक वंदन करना वंदना है। भूत में लगे हुए दोषों का पश्चात्ताप प्रतिक्रमण और भविष्य में दोष न करने का संकल्प प्रत्याख्यान कहलाता है तथा दया, क्षमा रत्नत्रय आदि गुणों का चिन्तन करते हुए शरीर में ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

श्रमण के लिए प्रेरक शिक्षायें

बाहरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहिदपरियम्मो ।
सो सगचरित्तभट्टो मोक्खपहविणासगो साहू ॥७५॥

जो साधु बाह्य भेष से युक्त है; किन्तु अभ्यंतर आत्मिक संस्कार से रहित है वह अपने चारित्र से भ्रष्ट होकर मुनि के मार्ग का विनाशक होता है।

ण हु तस्स इमो लोओ ण वि परलोओत्तमट्ठभट्ठस्स ।
लिंगग्गहणं तस्स दु णिरत्थयं संजमेण हीणस्स ॥७६॥

---

(७३) भग० आ० ११६० (७४) मूला० २२ (७५) मोक्ष पा० ६१
(७६) मूला० ९२९

जैसे दृढ़ कवच वाला योद्धा बाणों की वर्षा होते हुए भी बाणों से विद्ध नहीं होता इसी प्रकार समितियों से युक्त साधु जीव समूह में विहार करता हुआ भी आस्रवों से लिप्त नहीं होता।

तीन गुप्ति

मणवचकायपउत्ती भिक्खू सावज्जकज्जसंजुत्ता ।
खिप्पं णिवारयंतो तीहिं दु गुत्तो हवदि एसो ॥६८॥

सावद्यकर्म (हिंसादिकर्म) से मिली हुई मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को तत्काल दूर करता हुआ मुनि मन, वचन और काय को वश में करने रूप इन तीन गुप्तियों का धारक होता है।

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती ।
अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती ॥६९

मन की जो रागादिकों से निवृत्ति है उसे ही मनोगुप्ति जानो। झूठ आदि से निवृत्ति अथवा मौन धारण करना वचन गुप्ति कहलाती है।

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिंसादिणियत्ती वा सरीगुत्ती हवदि एसा ॥७०॥

शरीर संबंधी चेष्टा की निवृत्ति अथवा कायोत्सर्ग या हिंसादिकों से निवृत्त होना काय गुप्ति कहलाती है।

गुप्ति की महत्ता

गुत्तिपरिखाइगुत्तं संजमणयरं ण कम्मरिउसेणा ।
बंधेइ सत्तुसेणा पुरं व परिखादिहिं सुगुत्तं ॥७१॥

गुप्ति रूपी परिखा से रक्षित संयम रूपी नगर को कर्मरूप शत्रुओं की सेना बांध नहीं सकती जिस प्रकार परिखा आदि से सुरक्षित नगर को शत्रुओं की सेना।

छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो ।
तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥७२॥

---

(६८) मूला० ३३१ (६९) नियम० ६९ (७०) मूला० ३३३
(७१) भग० आ० १८४० (७२) भग० आ० ११८९

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा वहू जंप ।
दुक्खं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहि सट्ठु वेरग्गं ॥८२॥

हे श्रमण यदि तुम्हें चारित्र का पालन करना है तो भिक्षा भोजन कर, वन में रह, थोड़ा आहार कर, वहुत मत वोल, दुःख को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भाव का चिंतन कर और अच्छी तरह वैराग्य परिणाम रख।

अव्ववहारी एको झाणे एयग्गमणो भवे णिरारंभो ।
चत्तकसायपरिग्गह पयत्तचेट्ठो असंगो य ॥८३॥

हे श्रमण व्यवहार रहित हो, ज्ञान दर्शन के सिवाय मेरा कोई नहीं है; इस प्रकार एकत्व भाव का चिंतन कर, शुभ ध्यान में एकाग्र मन हो, आरंभ रहित हो, कषाय और परिग्रह को छोड़, आत्म हित के लिए उद्यमी हो, किसी की संगति मत कर।

णिद्दं जिणेहि णिच्चं णिद्दा खलु णरमचेदणं कुणदि ।
वट्टेज्ज हू पसूतो समणो सव्वेसु दोसेसु ॥८४॥

हे श्रमण निद्रा को जीतो, क्योंकि निद्रा मनुष्य को विवेक रहित अचेतन वना देती है और सोया हुआ मुनि सव दोषों में प्रवृत्त होता है।

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥८५॥

जो योगी व्यवहार में सो रहा है वही अपने कार्य में जागता है और जो व्यवहार में जागता है वह अपने कार्य में सोता रहता है।

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो निम्ममो निरारम्भो ।
आदसहावे सु रओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८६॥

जो योगी देह में निरपेक्ष, राग द्वेषादि द्वंदों से रहित, ममत्व हीन, आरम्भ रहित और आत्म स्वभाव में रमा हुआ होता है वही निर्वाण को प्राप्त होता है।

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥८७॥

तव तक आत्मा नहीं जाना जाता जव तक जीव की इंद्रियों के विषयों में प्रवृत्ति रहती है क्योंकि विषयों से विरक्त चित्त योगी ही आत्मा को जानता है।

---

(८२) मूला० ८९५ (८३) मूला० ८९६ (८४) मूला० ९७२
(८५) मोक्ष पा० ३१ (८६) मोक्ष पा० १२ (८७) मोक्ष पा० ६६

जो चारित्र से भ्रष्ट है उसका न यह लोक है और न परलोक। संयम रहित उस श्रमण का मुनि भेष धारण करना व्यर्थ है।

सो णिच्छदि मोत्तुं जे हत्थगयं उम्मुयं सपज्जलियं ।
सो अक्कमदि कण्हसप्पं छादं वग्घं च परिमसदि ॥७७॥

जो साधु दीक्षित होकर भी कषाय एवं वासना रूप परिणामों को स्वीकार करता है वह हाथ में जलते हुए पलीते को नहीं छोड़ना चाहता अथवा काले सांप को उल्लंघन करना चाहता है या भूखे बाघ को छूना चाहता है।

कोढ़ी संतो लद्धूण डहइ उच्छुं रसायणं एसो ।
सो सामण्णं णासेइ भोगहेदुं णिदाणेण ॥७८॥

जैसे कोई कोढ़ी होता हुआ भी कोढ़ के लिए रसायन स्वरूप ईख को पाकर भी जला देता है उसी प्रकार निदान करने वाला श्रमण भोगों के लिए अपने श्रामण्य का नाश कर देता है।

जह वाणिया य पणियं लाभत्थं विक्किणंति लोभेण ।
भोगाण पणिदभूदो सणिदाणो होइ तह धम्मो ॥७९॥

जैसे व्यापारी लोभ के अधीन होकर लाभ के लिए अपने माल को वेच देता है वैसे ही निदान करने वाला श्रमण भोग के लिए धर्म रूपी माल को वेच देता है।

पंचमहव्वयजुत्ता पंचिंदियसंजया निरावेक्खा ।
सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छंति ॥८०॥

अहिंसादि पंच महाव्रतों से परिपूर्ण, पंचेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने वाले, किसी भी प्रकार की अपेक्षा से रहित, स्वाध्याय और ध्यान में रत महामुनि अपने आत्मा का नियमन करते हैं।

मुणी मोणं समायाय धुणे कम्मसरीरगं ॥८१॥

मुनि मौन को ग्रहण कर कर्म शरीर को धुन डाले।

---

(७७) भग० आ० १३२८ (७८) भग० आ० १२२३ (७९) भग० आ० १२४४
(८०) बोध पा० ४४ (८१) आचारांग १२८-८३

अध्याय १२

तप

[कस कर काम करना तप कहलाता है। आत्मा के विकारों को नष्ट करने के लिए जो मनुष्य के महान प्रयत्न हैं वे सब तप हैं। इस अध्याय में तप का स्वरूप एवं उसकी नानाविध विशेषताओं को प्रकट करने वाली गाथाएं पढ़िए]

तप का लक्षण

चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणा य जो होई ।
सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स ॥१॥

शाठ्य (माया अथवा दुष्टता) के बिना आचरण करने वाले मनुष्य का उस आचरण में जो उद्यम और उपयोग होता है, उसे ही जिन भगवान ने तप कहा है।

तप की महत्ता

होइ सुतवो य दीओ अण्णाणतमंधयारचारिस्स ।
सव्वावत्थासु तओ वड्ढदि य पिदा व पुरिसस्स ॥२॥

अज्ञान रूपी अंधकार में चलने वाले जगत के लिए अच्छा तप दीपक होता है। सभी अवस्थाओं में तप पुरुष के लिए पिता की तरह प्रवृत्ति करता है।

जाव ण तवग्गितत्तं सदेहमूसाइं णाणपवणेण ।
तावण चत्ताकलंकं जीवसुवण्णं खु णिव्वडइ ॥३॥

जब तक अपने शरीर रूप मूसा में भेद ज्ञान रूपी पवन से तपरूपी अग्नि में तप्त न हो, तब तक जीव रूपी स्वर्ण निष्कलंक नहीं होता।

धादुगदं जह कणयं सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महदा ।
सुज्झइ तवग्गिधंतो तह जीवो कम्मधादुगदो ॥४॥

(१) भग० आ० १० (२) भग० आ० १४६६ (३) आराधना० १००
(४) भग० आ० १८५३

ज्झाणागदेहिं इंदियकसायभुजगा विरागमंतेहिं ।
णियमिज्जंता संजमजीवं साहुस्स ण हरंति ॥८८॥

ध्यान रूपी औषधों और वैराग्य रूप मंत्रों से नियंत्रित कषाय रूपी सांप साधु के संयम रूपी जीव का हरण नहीं कर सकते।

जह ण चलइ गिरिरायो अवरुत्तरपुव्वदक्खिणेवाए ।
एवमचलिदो जोगी अभिक्खणं झायदे णाणं ॥८९॥

जैसे पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं की हवा से सुमेरु चलायमान नहीं होता इसी तरह योगी निश्चल रहता हुआ निरंतर ध्यानावस्थित रहता है।

तवो जोइ जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्मेहा संजमजोग सन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥९०॥

तप आग है, जीव ज्योतिस्थान अर्थात उस आग के ठहरने की जगह है, योग (मन, वचन, और काय) कुडछी है, शरीर कारिसांग (सूखा हुआ गोमय) है, कर्म ईंधन है, संयम की प्रवृत्ति शांतिपाठ है। ऐसे ही होम से मैं हवन करता हूँ। ऋषियों के लिए यही होम प्रशस्त है।

सद्धं नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं ।
खन्तिं निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥
धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च ईरियं सया ।
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेण परिमन्थए ॥
तव नाराय जुत्तेणं, भित्तूणं कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥९१॥

श्रद्धा को नगर बना और तप एवं संवर को उसकी आगल, क्षमा को दृढ परकोटा बना और मन वचन काय की गुप्ति को किला, खाई और तोप बना, आत्मशक्ति को धनुष बना और ईर्या समिति को उसकी डोरी, धैर्य को उसकी मूंठ बना और सत्य रूपी प्रयत्न से उसे खींच, फिर तप रूपी बाण से कर्म कवच को भेद; इस प्रकार युद्ध करने वाला मुनि सदा के लिए संग्राम का अंत कर देता है और संसार से छूट जाता है।

---

(८८) भग० आ० १३९८ (८९) मूला० ८८४ (९०) उत्तरा० १२४३
(९१) उत्तरा० ९, २०, २२

वही वाह्य तप है जिससे मन में क्लेश न हो, जिससे श्रद्धा की वृद्धि हो और जिससे योगों की हानि न हो अर्थात मूल गुणों में कमी न आवे।

वाह्यतप के गुण

णिद्दाजओ य दिढ़झाणदा विमुत्ती य दप्पणिग्घादो।
सज्झायजोगणिव्विग्घदा य सुहदुक्खसमदा य ॥१०॥

निद्रा का जीतना, ध्यान का दृढ़ होना, विशिष्ट त्याग (शरीर से ममता हटना), असंयम के कारण दर्प (उन्माद) का नाश, वाचना आदि स्वाध्यायों में निर्विघ्नता और सुख दुःख में समता।

देहस्स लाघवं णेहलूहणं उवसमो तहा परमो।
जवणाहारो संतोसदा य जहसंभवेण गुणा ॥११॥

शरीर का हलका पन, शरीर में स्नेह का नष्ट होना, परम उपशम, जवनाहार अर्थात शरीर रक्षण मात्र हेतु आहार का लेना और संतोष; ये सब यथासंभव वाह्य तप के गुण हैं।

अनशन तप

जो मणइंदियविजई इहभवपरलोयसोक्खणिरवेक्खो।
अप्पाणे चिय णिवसइ सज्झायपरायणो होदि ॥१२॥

जो मन और इन्द्रिय को जीतने वाला है, इसलोक और परलोक के सुख में निरपेक्ष है, आत्मा में ही निवास करता है और स्वाध्याय में तत्पर होता है।

कम्माणणिज्जरट्ठं आहारं परिहरेइ लीलाए।
एगदिणादिपमाणं तस्स तवो अणसणं होदि ॥१३॥

जो विना किसी प्रकार के क्लेश के एक दो दिन आदि के प्रमाण से कर्मों की निर्जरा करने के लिए आहार का परित्याग करता है उसके अनशन तप होता है।

---

(१०) भग० आ० २४१ (११) भग० आ० २४४ (१२) कार्तिके० ४३८
(१३) कार्तिके० ४३९

जैसे महान अग्नि से तपाया गया धातुगत सुवर्ण शुद्ध हो जाता है, वैसे ही कर्मधातु में मिला हुआ जीव तपरूपी अग्नि से तपाया जाने पर शुद्ध हो जाता है।

डहिऊण जहा अग्गी विद्धंसदि सुबहुगंपि तणरासी ।
विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतणं सुबहुगंपि ॥५॥

जैसे आग बहुत अधिक तृणराशि को भी जलाकर विध्वंस कर देती है, वैसे ही तप रूपी अग्नि भी बहुत अधिक कर्मरूपी तृणों को नष्ट कर देती है।

रागो दोसो मोहो इंदिय चोरा य उज्जदा णिच्चं ।
ण च एति पहंसेदुं सप्पुरिससुरक्खियं णयरं ॥६॥

राग, द्वेष, मोह और इन्द्रियाँ ये चारों चोर तपरूपी नगर का प्रध्वंस करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं, किन्तु वह सत् पुरुष से सुरक्षित है; इसलिए वे उसका नाश नहीं कर सकते।

तप के भेद

दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भंतरो मुणेयव्वो ।
एक्केक्को वि य छद्धा जधाकमं तं परूवेमो ॥७॥

और यह तप आचार दो प्रकार का जानना चाहिये:—बाह्य और अभ्यंतर। इन दोनों ही तप आचारों के छः छः भेद हैं। आगे क्रम से उनका प्ररूपण करते हैं।

बाह्य तप

अणसण अवमोदरियं रसपरिच्चाओ य वुत्तिपरिसंखा ।
कायस्स च परितावो विवित्तासयणासणं छट्ठं ॥८॥

ये बाह्य तप हैं:—अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और छठा विविक्तशय्यासन।

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि ।
जेण य सद्धा जायदि जेण य जोगा ण हीयंते ॥९॥

---

(५) भग० आ० १८५१ (६) मूला० ८७८ (७) मूला० ३४५
(८) मूला० ३४६ (९) मूला० ३५८

[वैशाख और जेठ आदि महिनों में दुःसह सूर्य की किरणों से संतप्त पर्वत के शिलातल पर योग धारण करना आतापन योग कहलाता है। इसी प्रकार पौष और माघ आदि महीनों में नदी या समुद्र के तट, वनके चौराहे आदि में शीत की बाधा सहना और वर्षाकाल में वन के मध्य वृक्ष के मूल में स्थित हो कर झंझावायु आदि का सहना वायु की बाधा कहलाती है।]

विविक्तशय्यासन तप

जो रायदोसहेदू आसणसिज्जादियं परिच्चयई।
अप्पा णिव्विसय सया तस्स तवो पंचमो परमो ॥१८॥

जो राग अथवा द्वेष रहित होकर आसन (सिंहासन), शय्या (पलंग, काष्ठ फलकादिक) आदि का परित्याग कर देता है और जो विषयों में अपने चित्त को नहीं जाने देता है उसके हमेशा पांचवाँ (विविक्तशय्यासन) नाम का तप होता है।

पूजादिसु णिरवेक्खो संसारसरीरभोगनिव्विण्णो।
अब्भंतरतवकुसलो उवसमसीलो महासंतो ॥१९॥

जो णिवसेदि मसाणे वणगहणे णिज्जणे महाभीमे।
अण्णत्थ वि एयंते तस्स वि एदं तवं होदि ॥२०॥

अपनी पूजा प्रतिष्ठा को नहीं चाहने वाला, संसार शरीर और भोगों से विरक्त, अभ्यंतर तपों में कुशल, उपशम शील (मनो विजेता) और महाशान्त जो तपस्वी श्मशान भूमि, गहन वन और अन्यत्र महा भयानक एकांत में निवास करते हैं उनके भी यह तप होता है।

अभ्यंतर तप

पायच्छित्तं विणयं वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं च विउस्सग्गो अब्भंतरओ तवो एसो ॥२१॥

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इस तरह छः प्रकार का अभ्यंतर तप कहलाता है।

---

(१८) कार्तिके० ४४५ (१९) कार्तिके० ४४६ (२०) कार्तिके ४४७
(२१) मूला० ३६०

अवमौदर्यतप

आहारगिद्धिरहिओ चरियामग्गेण पासुगं जोग्गं ।
अप्पयरं जो भुंजइ अवमोदरियं तवं तस्स ॥१४॥

जो आहार की आशक्ति से रहित होकर चर्या मार्ग से (श्रमणों के-आहारग्रहण के नियमानुसार), प्रासुक (निर्जन्तु), योग्य (यतियों के-ग्रहण करने योग्य) बहुत थोड़ा आहार ग्रहण करता है, उसके अवमौदर्य नामक तप होता है।

रसपरित्याग तप

संसारदुक्खतट्ठो विससमविसयं विचिंतमाणो जो ।
णीरस भोज्जं भुंजइ रसचाओ तस्स सुविसुद्धो ॥१५॥

संसार के दुःख से त्रस्त और विषयों को विष के समान समझता हुआ जो नीरस भोजन करता है उसके सुविशुद्ध रसपरित्याग नाम का तप होता है।

वृत्तिपरिसंख्यान तप

एगादिगिहपमाणं किं वा संकप्पकप्पियं विरसं ।
भोज्जं पसुव्व भुंजइ वित्तिपमाणं तवो तस्स ॥१६॥

एक इत्यादि घरों के प्रमाण से और संकल्प कल्पित (इस मार्ग में इस घर में दिया हुआ भोजन मैं करूंगा इस प्रकार के संकल्प सहित) , रस रहित, पशु की तरह अर्थात भूख होने पर लालसा रहित होकर जो भोजन करता है उसके 'वृत्तिपरिसंख्यान' नाम का तप होता है।

कायक्लेश तप

दुस्सहउवसग्गजई आतावणसीयवायखिण्णो वि ।
जो ण वि खेदं गच्छदि कायकिलेसो तवो तस्स ॥१७॥

जिनका सहना मुश्किल है ऐसे उपसर्गों को जीतने वाला श्रमण आतापन शीत और वायु से खिन्न होने पर भी खेद को प्राप्त नहीं होता, उसके कायक्लेश तप होता है।

---

(१४) कार्तिके० ४४१   (१५) कार्तिके० ४४४   (१६) कार्तिके० ४४३
(१७) कार्तिके० ४४८

विनय तप

मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाउ पच्छा समुवेंति साहा ।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओ य से पुप्फ फलं रसो य ॥२७॥

वृक्ष के मूल से सर्व प्रथम स्कंध (तना) पैदा होता है फिर तने से शाखा उत्पन्न होती हैं, शाखा से उपशाखाएं निकलती हैं, फिर उनसे पत्ते, पत्तों से पुष्प, पुष्पों से फल और उनसे रस उत्पन्न होता है ।

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो ।
जेण कित्ति सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥२८॥

इसी तरह धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अंतिम फल है । विनय से ही कीर्ति और शीघ्र ही शास्त्र ज्ञान तथा अंत में निःश्रेयस (परम कल्याण) की प्राप्ति होती है ।

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणियस्स य ।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥२९॥

अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है और विनीत को संपत्ति । ये दोनों बातें जिसको ज्ञात (जानी हुई) हो गई वही शिक्षा को प्राप्त कर सकता है ।

वैयावृत्य तप

जो उवयरदि जदीणं उवसग्गजराइखीणकायाणं ।
पूजादिसु णिरवेक्खं विज्जावच्चं तवो तस्स ॥३०॥

उपसर्ग और वृद्धावस्था आदि से क्षीण शरीर जो यति हैं उन का कीर्ति आदि से निरपेक्ष होकर जो उपचार करता है उसके वैयावृत्य तप होता है ।

जो वावरइ सरूवे समदमभावम्मि सुद्धिउवजुत्तो ।
लोयववहारविरदो विज्जावच्चं परं तस्स ॥३१॥

विशुद्ध उपयोग सहित जो लोक व्यवहार से विरक्त होकर शमदम भाव स्वरूप अपनी आत्मा में प्रवृत्ति करता है, उसके उत्कृष्ट वैयावृत्य होता है ।

---

(२७) दशवै० ९–२–१ (२८) दशवै० ९–२–२ (२९) दशवै० ९-२-२१
(३०) कार्तिके० ४५७ (३१) कार्तिके० ४५८

प्रायश्चित तप

जं किंपि तेरण दिण्णं तं सव्वं सो करेदि सद्धाए ।
णो पुण हियए संकदि किं थोवं किमु बहुवं वा ॥२२॥

जो कुछ उसने (आचार्य ने) प्रायश्चित्त दिया है उस सबको श्रद्धा पूर्वक करता है और हृदय में इस बात की शंका नहीं करता कि वह प्रायश्चित्त थोड़ा है या अधिक है।

दोसं ण करेदि सयं अण्णं पि ण कारएदि जो तिविहं ।
कुव्वाणं पि ण इच्छइ तस्स विसोही परो होदि ॥२३॥

जो स्वयं मन, वचन, और काय से दोष नहीं करता, दूसरे से भी नहीं करवाता और जो करते हुए की अनुमोदना भी नहीं करता उसके परम विशुद्धि होती है।

अह कह वि पमादेण य दोसो जदि एदि तं पि पयडेदि ।
णिद्दोससाहुमूले दसदोसविवज्जिदो होदु ॥२४॥

अथवा किसी तरह प्रमाद से दोष हो भी जाय तो उसे आचार्य उपाध्याय और साधु के पास आलोचना के दस दोषों से रहित होकर अथवा रहित होने के लिए प्रकट करदे।

पुणरवि काउं णेच्छदि तं दोसं जइवि जाइ सयखंडं ।
एवं णिच्चयसहिदो पायच्छित्तं तवो होदि ॥२५॥

चाहे शरीर के शत खण्ड हो जायं फिर भी लगे हुए दोष का प्रायश्चित्त लेने के बाद जो उस दोष को नहीं करना चाहता, इस प्रकार के दृढ़ निश्चय वाले साधु के प्रायश्चित्त तप होता है।

जो चिंतइ अप्पाणं णाणसरूवं पुणो पुणो णाणी ।
विकहादिविरत्तमणो पायच्छित्तं वरं तस्स ॥२६॥

जो ज्ञानी विकथा आदि से विरक्त चित्त होकर वार वार आत्मा को ज्ञानस्वरूप चिंतन करता है, उसीके श्रेष्ठ प्रायश्चित्त होता है।

---

(२२) कार्तिके० ४५१ (२३) कार्तिके० ४४९ (२४) कार्तिके० ४५०
(२५) कार्तिके० ४५२ (२६) कार्तिके० ४५३

आदहिदपइण्णाण भावसंवरो णवणवो य संवेगो ।
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च ॥३७॥

स्वाध्याय से आत्महित का परिज्ञान, बुरे भावों का रुकना, नया नया संवेग (धर्म में श्रद्धा), रत्नत्रय में निश्चलता, तप, भावना (गुप्तियों में तत्परता) और परोपदेशकता ये गुण उत्पन्न होते हैं।

वारसविहम्मि य तवे अब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं ॥३८॥

गणधरादिकों के द्वारा बतलाए हुए अभ्यंतर और बाह्य भेद वाले बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान दूसरा कोई तपकर्म (क्रिया) न तो है और न होगा।

कायोत्सर्ग तप

जल्लमललित्तगत्तो दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो ।
मुहधोवणादिविरओ भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो ॥३९॥
ससरूवचिंतणरओ दुज्जणसुयणाण जो हु मज्झत्थो ।
देहे वि णिम्ममत्तो काओसग्गो तवो तस्स ॥४०॥

जल्ल (सर्वांग मल) और मल (मुख नाक आदि का मल) से जिस का शरीर लिप्त है, जो दुस्सह व्याधियों का भी प्रतिकार नहीं करता, मुख प्रक्षालन आदि से जो विरक्त है, जो भोजन और शय्या आदि की अपेक्षा नहीं करता, जो अपने स्वरूप के चिंतन में रत है, दुर्जन और सज्जनों में मध्यस्थ है और जो देह में भी निर्ममत्व है उसके कायोत्सर्ग तप होता है।

जो देहपालणपरो उवयरणादिविसेससंसत्तो ।
वाहिरववहाररओ काओसग्गो कुदो तस्स ॥४१॥

जो अपने शरीर के पालन करने में तत्पर है, पीछी, कमण्डल आदि की विशेषता में आसक्त है और बाहरी व्यवहार में रत है उसके कायोत्सर्ग नाम का तप कैसे हो सकता है?

---

(३७) भग० आ० १००   (३८) भग० आ० १०७   (३९) कार्तिके० ४६५
(४०) कार्तिके० ४६६   (४१) कार्तिके० ४६७

स्वाध्याय तप

परियट्टणाय वायण पडिच्छणाणुपेहणा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ ॥३२॥

परिवर्त्तना, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और धर्म कथा ये स्वाध्याय के पांच भेद हैं। पढ़े हुए ग्रंथ का पाठ करना परिवर्त्तना, शास्त्र के अर्थ का व्याख्यान करना वाचना, शास्त्र के अर्थ को दूसरे से पूछना पृच्छना, शास्त्र का वार वार मनन करना अनुप्रेक्षा, त्रेशठशलाका पुरुषों के चरित्र का पढ़ना धर्म कथा कहलाती है। यह पांच प्रकार का स्वाध्याय मुनिको देव वंदना मंगल सहित करना चाहिये।

सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तह पमाददोसेण ॥३३॥

जैसे सूत (धागा) सहित सूई प्रमाद के दोष से कूड़े में गिर कर नष्ट नहीं होती, वैसे ही शास्त्र स्वाध्याय युक्त मनुष्य प्रमाद के दोष से नष्ट नहीं होता।

सज्झायं कुव्वंतो पंचिदियसंपुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एयग्गमणो विणयेण समाहिओ भिक्खू ॥३४॥

स्वाध्याय करता हुआ साधु पंचेंद्रियों के संवर से युक्त, मन, वचन और काय को वश में करने वाला, एकाग्र मन होता हुआ ध्यान में लीन और विनय सहित होता है।

परतत्तीणिरवेक्खो दुट्ठवियप्पाण णासणसमत्थो।
तच्चविणिच्चयहेदू सज्झाओ ज्झाणसिद्धियरो ॥३५॥

स्वाध्याय दूसरों की निंदा में निरपेक्ष, बुरे विकल्पों के नाश करने में समर्थ, तत्व के विनिश्चय का कारण और ध्यान की सिद्धि करने वाला है।

जो जुद्धकामसत्थं रायदोसेहिं परिणदो पढइ।
लोयावंचणहेदु सज्झायो णिप्फलो तस्स ॥३६॥

जो राग द्वेष से परिणत होकर लोगों को ठगने के लिए युद्ध शास्त्र और कामशास्त्र पढ़ता है उसका स्वाध्याय निष्फल है।

---

(३२) मूला० ३९३ (३३) मूला० ९७१ (३४) मूला० ९६९
(३५) कार्तिके० ४५९ (३६) कार्तिके० ४६२

झाणं कसायपरचक्कभए बलवाहणड्ढहो राया ।
परचक्कभए बलवाहणड्ढओ होइ जह राया ॥४७॥

पर चक्र (शत्रु सैन्य) का भय होने पर सैन्य और वाहन (हाथी-घोड़े आदि) से परिपूर्ण राजा की तरह ध्यान, कपायरूपी परचक्र का भय होने पर राजा के समान है।

झाणं विसयछुहाए य होइ अण्णं जहा छुहाए वा ।
झाणं विसयतिसाए उदयं उदयं व तण्हाए ॥४८॥

जैसे क्षुधा को नष्ट करने के लिए अन्न होता है तथा जिस तरह प्यास को नष्ट करने के लिये जल है वैसे ही विषयों की भूख तथा प्यास को नष्ट करने के लिए ध्यान है।

झाणं कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिगिंछिदे कुसलो ।
रोगेसु जहा वेज्जो पुरिसस्स तिगिंछिदे कुसलो ॥४९॥

जैसे मनुष्य के रोगों की चिकित्सा करने में वैद्य कुशल होता है वैसे ही कपाय रूपी रोगों की चिकित्सा करने में ध्यान कुशल होता है।

झाणं किलेससावदरक्खा रक्खाव सावदभयम्मि ।
झाणं किलेसवसणे मित्तं मित्तंव वसणम्मि ॥५०॥

जैसे श्वापदों (हिंस्र वन पशु) का भय होने पर रक्षा का और व्यसनों (संकटों) में मित्र का महत्व होता है वैसे ही संक्लेश परिणाम रूप व्यसनों में ध्यान मित्र के समान है।

झाणं कसायवादे गब्भघरं मारुदेव गब्भघरं ।
झाणं कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि ॥५१॥

जैसे हवा को रोकने के लिये गर्भगृह (कमरे के भीतर का कमरा) होता है वैसे ही कपाय रूपी हवा के लिए ध्यान है और जैसे गर्मी के लिए छाया होती है वैसे ही कषाय रूपी गर्मी को नष्ट करने के लिए ध्यान है।

वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गन्धेसु ।
वेरुलियं व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्स ॥५२॥

---

(४७) भग० आ० १९०० (४८) भग० आ० १९०२ (४९) भग० आ० १९०१
(५०) भग० आ० १८९७ (५१) भग० आ० १८९८ (५२) भग० आ० १८९९

ध्यान की महत्ता

अइ कुणइ तवं पालेउ संजमं पढउ सयलसत्थाइं ।
जाम ण झावइ अप्पा ताम ण मोक्खो जिणो भणइ ॥४२॥

जिन कहते हैं कि खूब तप करो, संयम का पालन करो, सारे शास्त्रों को पढो किन्तु जब तक आत्म का ध्यान नहीं करो तब तक मोक्ष नहीं हो सकता।

दंतेंदिया महरिसी रागं दोसं च ते खवेदूणं ।
झाणोवओगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ॥४३॥

इन्द्रियों को वश में करने वाले वे महर्षि राग और द्वेष का क्षय कर ध्यानोपयोग से युक्त होते हुए मोह का पूर्ण विनाश कर अवशिष्ट कर्मों का भी क्षय कर देते हैं।

णीसेसकम्मणासे पयडेइ अणंतणाणचउखंधं ।
अण्णेवि गुणा य तहा झाणस्स ण दुल्लहं किंपि ॥४४॥

सारे कर्मों के नाश होने पर अनंत ज्ञान चतुःस्कंध अर्थात अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत शक्ति एवं दूसरे अनेक गुण प्रकट हो जाते हैं। ध्यान के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

लवणव्व सलिलजोए झाणे चित्तं विलीयए जस्स ।
तस्स सुहासुहडहणो अप्पा अणलो पयासेइ ॥४५॥

जल में लवण की तरह जिसका चित्त ध्यान में विलीन हो जाता है उसके शुभ (पुण्य) अशुभ (पाप) को जलाने वाला आत्मा रूपी अनल (आग) प्रकाशित हो जाता है।

चलणरहिओ मणुस्सो जह वंछइ मेरुसिहरमारुहिउं ।
तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खयं साहू ॥४६॥

ध्यान के बिना जो साधु कर्म क्षय करने की इच्छा करता है वह उसी मनुष्य के समान है जो बिना पैर का होने पर भी मेरु के शिखर पर चढने की इच्छा करता है।

---

(४२) आराधना० १११ (४३) मूला० ८८१ (४४) आराधना० ८७
(४५) आराधना० ८४ (४६) तत्व० १३

विण्णिवि असुहे ज्झाणे पावणिहाणे य दुक्खसंताणे ।
णच्चा दूरे वज्जह धम्मे पुण आयरं कुणह ॥५८॥

अशुभ ध्यान पाप की खान और दुःखों की परम्परा के जनक हैं इस लिए इन्हें दूर ही रक्खो और धर्म में आदर करो।

सुविसुद्धरायदोसो वाहिरसंकप्पवज्जिओ धीरो ।
एयग्गमणो संतो जं चितइ तं पि सुहझाणं ॥५६॥

जिसके राग और द्वेष का शोधन (नाश) हो गया है, जो बाहरी संकल्पों से रहित है, जो धीर है और एकाग्र मन होकर जो कुछ सोचता है वह शुभ ध्यान है।

धम्मे एयग्गमणो जो ण हि वेदेइ इंदियं विसयं ।
वेरग्गमओ णाणी धम्मज्झाणं हवे तस्स ॥६०॥

धर्म में एकाग्र मन वाला, वैराग्य में लवलीन जो ज्ञानी आत्मा इन्द्रियों के विषयों का अनुभव नहीं करता है उसके धर्म ध्यान होता है।

पच्चाहरित्तु विसयेहिं इंदियेहिं मणं च तेहिंतो ।
अप्पाणम्मि मणं तं जोगं पणिधाय धारेदि ॥६१॥

वज्जियसयलवियप्पो अप्पसरूवे मणं णिरुंभित्ता ।
जं चितइ साणंदं तं धम्मं उत्तमं ज्झाणं ॥६२॥

विषयों से इंद्रियों और मन को हटा कर एवं मन को एकाग्रता से आत्मा में लगाकर जो एक ध्येय की मुख्यता से मन को रोकता है,

समस्त विकल्पों को छोड़ कर, आत्म स्वरूप में मनको स्थिर कर, आनंद पूर्वक जो चिंतन किया जाता है वह उत्तम धर्मध्यान है।

शुक्लध्यान का लक्षण

मंदकसायं धम्मं मंदतमकसायदो हवे सुक्कं ।
अकसाये वि सुयड्ढे केवलणाणे वि तं होदि ॥६३॥

---

(५८) कार्तिके० ४७५ (५६) कार्तिके० ४७८ (६०) कार्तिके० ४७७
(६१) भग० आ० १७०७ (६२) कार्तिके० ४८० (६३) कार्तिके० ४७०

रत्नों में वज्र (हीरा) की तरह, गंध द्रव्यों में गोशीर्ष चंदन की तरह और मणियों में वैडूर्य मणि की तरह ध्यान क्षपक के लिये दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपों में सार भूत है।

जह कुणइ कोवि भेयं पाणियदुद्धाण तक्कजोएण ।
णाणी व तहा भेयं करेइ वर झाणजोएण ॥५३॥

जैसे कोई विवेचक पानी और दूध का भेद तर्क योग (तर्क शक्ति) से करता है वैसे ही ज्ञानी आत्मा अपने श्रेष्ठ ध्यान के द्वारा आत्मा और आत्मेतर पदार्थों का भेद करता है।

जा किंचिवि चलइ मणो झाणे जोइस्स गहिय जोयस्स ।
ताव ण परमाणंदो उप्पज्जइ परमसोक्खयरो ॥५४॥

योग (समाधि) को ग्रहण करने वाले योगी का जब तक ध्यान में थोड़ा भी मन चलायमान होता रहता है तब तक परम सुख का कारण परमानंद प्राप्त नहीं हो सकता।

झाणं कसायडाहे होदि वरदहो दहोव डाहम्मि ।
झाणं कसायसीदे अग्गी अग्गीव सीदम्मि ॥५५॥

जैसे आग किसी पदार्थ को जलाने में समर्थ होती है वैसे ही कषाय को जलाने में ध्यान श्रेष्ठ आग है। जैसे शीत को विनाश करने में आग समर्थ है वैसे ही कषाय रूपी शीत को नष्ट करने के लिए ध्यान है।

झाणट्ठिओ हु जोई जइ णो समवेयं णियअप्पाणं ।
तो ण लहइ तं सुद्धं भग्गविहीणो जहा रयणं ॥५६॥

ध्यान स्थित भी योगी यदि अपने आत्मा की अनुभूति नहीं करता तो वह कभी उस शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं हो सकता जैसे भाग्यहीन मनुष्य रत्न को।

ध्यान का लक्षण और भेद

अंतोमुहुत्तमेत्तं लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं ।
ज्झाणं भण्णइ समए असुहं च सुहं तं दुविहं ॥५७॥

अन्तर्मुहूर्त तक वस्तु में लीन जो मानस ज्ञान है वह शास्त्र में ध्यान कहलाता है और उसके दो भेद हैं:- शुभ और अशुभ।

---

(५३) तत्व० २४ (५४) तत्व० ६० (५५) भग० आ० १८९९
(५६) तत्व० ४६ (५७) कार्तिके० ४६८

व्युपरतक्रियानिवर्त्ति

जोगविणासं किच्चा कम्मचउक्कस्स खवणकरणठ्ठं ।
जं ज्झायदि अजोगिजिणो णिक्किरियं तं चउत्थं च ॥६८॥

योग (मन, वचन और काय के द्वारा आत्म प्रदेशों का परिस्पंदन) विनाश करके चार अघाति कर्म (आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय) के नाश करने के लिए अयोगिजिन (चौदहवें गुणस्थान में स्थित आत्मा) जिस ध्यान को ध्याते हैं वह चौथा व्युपरतक्रिया निवर्त्ति नाम का ध्यान होता है।

सुण्णज्झाणपइट्ठो जोई ससहावसुक्खसंपण्णो ।
परमाणंदे थक्को भरियावत्थो फुडं हवइ ॥६९॥

शून्यध्यान (निर्विकल्पक समाधि लक्षण ध्यान) में प्रविष्ट अपनी सत्ता से उत्पन्न सुखस्वरूप संपदा वाला योगी स्पष्ट रूप से परमानंद में स्थित होकर भृतावस्थ अर्थात अविनश्वर उपमा रहित आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है।

जत्थ ण झाणं झेयं झायारो णेव चिंतणं किं पि ।
ण य धारणा वियप्पो तं सुण्णं सुट्ठु भाविज्ज ॥७०॥

जहां न ध्यान है और न ध्येय है, न ध्याता (ध्यान करने वाला) और न किसी प्रकार का चिंतन, न धारणा और न किसी प्रकार का विकल्प उसी ध्यान को अच्छी तरह ध्याओ।

इय एरिसम्मि सुण्णे झाणे झाणिस्स वट्टमाणस्स।
चिरबद्धाण विणासो हवइ सकम्माण सव्वाणं ॥७१॥

इस प्रकार के शून्य ध्यान में वर्त्तमान ध्यानी के अपने चिरबद्ध समस्त कर्मों का विनाश हो जाता है।

विसयालंबणरहिओ णाणसहावेण भाविओ संतो ।
कीलइ अप्पसहावे तक्काले मोक्खसुक्खे सो ॥७२॥

विषयों के आलंबन से रहित, ज्ञान स्वभाव में अभ्यस्त होता हुआ यह आत्मा उस समय आत्मस्वभाव स्वरूप जो मोक्षसुख है उसमें क्रीड़ा करता है, रमजाता है।

---

(६८) कार्तिके० ४८५ (६९) आराधना० ७७ (७०) आराधना० ७८
(७१) आराधना० ८६ (७२) आराधना० ८७

मंद कषाय वाले आत्मा के धर्म ध्यान और मंदतम कषाय वाले के शुक्लध्यान होता है। कषाय रहित श्रुतज्ञानी और केवलज्ञानी के भी शुक्लध्यान होता है।

जत्थ गुणा सुविसुद्धा उवसमखमणं च जत्थ कम्माणं।
लेसा वि जत्थ सुक्का तं सुक्कं भण्णदे ज्झाणं ॥६४॥

जहां विशुद्ध गुण हैं, जहां कर्मों का उपशम और क्षय है और जहां लेश्या भी शुक्ल है वह शुक्लध्यान कहलाता है।

शुक्लध्यान के भेदः—पृथकत्ववितर्क वीचार

पडिसमयं सुज्झंतो अणंतगुणिदाए उभयसुद्धीए।
पढमं सुक्कं ज्झायदि आरूढो उभयसेणीसु ॥६५॥

प्रति समय अनंत गुणित उभय शुद्धियों (बाह्य और अभ्यंतर अथवा उपशम और क्षयरूप) द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध करता हुआ, क्षपक श्रेणी अथवा उपशम श्रेणी पर आरूढ़ (चढा हुआ) श्रमण प्रथम शुक्लध्यान (पृथकत्त्ववित्तर्क वीचार नामक ध्यान) को ध्याता है।

एकत्ववितर्क वीचार

णिस्सेसमोहविलये खीणकसाओ य अंतिमे काले।
स सरूवम्मि णिलीणो सुक्कं ज्झायेदि एयत्तं ॥६६॥

संपूर्ण चारित्र मोह के नाश हो जाने पर क्षीण कषाय वाला आत्मा बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय में अपने स्वरूप में निलीन (रमा हुआ) एकत्व (एकत्ववितर्क वीचार) नामक शुक्लध्यान करता है।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति

केवलणाणसहावो सुहमेजोगम्मि संठिओ काए।
जं ज्झायदि सजोगजिणो तं तदियं सुहमकिरियं च ॥६७॥

केवलज्ञान रूप अपने स्वभाव को प्राप्त होने वाला, सयोग (मन-वचन काय रूप आत्म प्रदेशों के परिस्पंदन वाला), सूक्ष्म काय योग में ठहरा हुआ जिन (चार घाति कर्म जिसके नष्ट हो गये हैं) तीसरे सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति नामक शुक्लध्यान का स्वामी होता है।

---

(६४) कार्तिके० ४८१ (६५) कार्तिके० ४८२ (६६) कार्तिके० ४८३
(६७) कार्तिके० ४८४

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरु भित्ता ।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥४॥

जिसने मोहरूप कालुष्य को नष्ट कर दिया है, जो विषयों से विरक्त है वह मनुष्य अपने मन को रोक कर, अपने स्वभाव में स्थित होता है तभी आत्मा का ध्याता कहलाता है ।

सुत्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति ॥५॥

अमुनी-अज्ञानीजन-सोते रहतेहैं, मुनिसदा जागते हैं ।

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्जं समसुहदक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥६॥

जिसकी मोह रूप गांठ नष्ट हो गई है, जो श्रामण्य (स्वस्वभाव) में स्थित है वह राग द्वेष को नष्ट कर सुख और दुख को समान रूप से अनुभव करता हुआ अक्षय (विनाश रहित) सुख को प्राप्त होता है ।

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ ।
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥७॥

शुद्धोपयोग रूप परिणाम से विशुद्ध होकर, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोह से रहित होता हुआ आत्मा स्वयं ही संपूर्ण पदार्थों के पार पहुँच जाता है ।

आगइं गइं परिण्णाय दोहिवि अंतेहिं आदिस्समाणेहिं
से न छिज्जइ, न भिज्जइ, न डज्झइ,
न हंमइ कंचणं सव्वलोए ॥८॥

आगति और गति (आना जाना) जानकर जिसने दोनों ही अंतों राग और द्वेष को छोड दिया है वह सारे लोक में न किसी के द्वारा छिन्न होता है और न भिन्न (टुकडों वाला) न दग्ध (जला हुआ) होता है और न निहत (घात या आघात वाला)

से मेहावी अभिनिवट्टिज्जा कोहं च
माणं च मायं च लोभं च पिज्जं च

---

(४) प्रवच० २-१०४ (५) आचारा० सू० ३-१ (६) प्रवच० २-१०३
(७) प्रवच० १-१५ (८) आचारा० सू० ३-४८

अध्याय १६

शुद्धोपयोगी आत्मा

[आत्मा के तीन उपयोग माने गये हैं:—अशुभोपयोग, शुभोपयोग, और शुद्धोपयोग। पहला पाप जनक, दूसरा पुण्य जनक और तीसरा कर्मबंधन का विनाश करने वाला होता है। इस अध्याय में शुद्धोपयोग का विवेचन करने वाली गाथाओं का संग्रह है।]

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१॥

जीवादि पदार्थ और उनके प्रतिपादन करने वाले सूत्रों को अच्छी तरह जानने वाला, संयम और तप से संयुक्त, रागरहित, सुख और दुःखों को समान समझने वाला श्रमण ही शुद्धोपयोगी कहलाता है।

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥२॥

शुद्धोपयोग से प्रसिद्ध जो अरहंत और सिद्ध हैं उनका सुख अति प्रचुर, इन्द्रादिकों को भी प्राप्त नहीं होने वाला, अद्भुत, परमाह्लाद रूप, केवल आत्मा से उत्पन्न, रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द एवं इन से विशिष्ट पदार्थों से अतीत, जगत में जिसकी कोई उपमा नहीं है ऐसा, अन्तरहित और निरन्तर होता है।

जं च कामसुहं लोए जं च दिव्वं महासुहं ।
वीतरागसुहस्सेदे णंतभागंपि णग्घई ॥३॥

लोक में जो विषयों से उत्पन्न होने वाला सुख है और जो देवताओं का महासुख है वह सब वीतराग आत्मा को उत्पन्न होने वाले सुख के अनंतवें भाग भी नहीं टिक सकता।

---

(१) प्रवच० १-१४ (२) प्रवच० १-१३ (३) मूला० ११४४

न मउए न गरुए न लहुए
न उण्हे न निद्धे न लुक्खे
न काऊ न रूहे न संगे
न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा
परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए
अरूवी सत्ता
अपयस्स पयं नत्थि
से न सद्दे न रूवे न गंधे न रसे
न फासे इच्चेव त्ति वेमि ॥११॥

उस दशा का वर्णन करने में सारे स्वर (स्वर-शब्द) निवृत्त हो जाते हैं—अपने आप को असमर्थ पाते हैं। वहां तक का प्रवेश नहीं है और न बुद्धि ही वहां तक पहुँच सकती है। कर्म मल रहित केवल चैतन्य ही उस दशा का ज्ञाता होता है।

मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व और न वृत्त—गोल। वह न त्रिकोण है, न चौरस और न अणु परिमाण। वह न कृष्ण है न नील, न लाल, न पीला और न सफेद ही। न वह अच्छी गंधवाला है और न बुरी गंध-वाला। वह न तिक्त है न कडुआ, न कसैला, न खट्टा, न मीठा, न कर्कश और न मृदु। वह न भारी है और न हलका। वह न ठंडा है और न गर्म। वह न रूखा है और न चिकना।

वह न शरीर धारी है, न वार वार जन्म धारण करने वाला और न किसी भी वस्तु में आसक्त। वह न स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक।

वह ज्ञाता है, वह परिज्ञाता है, उसके लिए कोई उपमा नहीं है, वह अरूपी सत्ता है।

वह अपद है, उसका कोई पद—वाचक शब्द-नहीं है। वह न शब्दात्मक है, न रूपात्मक न गंधात्मक, न रसात्मक और न स्पर्शात्मक। वह ऐसा है ऐसा मैं जानता हूँ-कहता हूँ।

---

(११) आचारा० सू० ५-७३

दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च
मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च ॥९॥

इस प्रकार देखने वाला बुद्धिमान मनुष्य क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म, काम, नरक, तिर्यचयोनि तथा दुःख से निवृत्त हो जाता है।

जे खलु भो। वीरा समिया सहिया
सया जया संघडदंसिणो
आओवरया अहातहं लोयं
उवेहमाणा पाईणं पडिणं
दाहिणं उईणं इय सच्चंसि
परिचिट्ठिंसु ॥१०॥

हे साधक! वास्तव में जो मनुष्य वीर, समित (सावधान) विवेक सहित, सदा यत्नवान, दृढ दर्शी, पाप कर्म से निवृत्त और लोक को यथार्थ रूप से देखने वाले हैं वे पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर—सारी दिशाओं में सत्य से प्रतिष्ठित होते हैं।

सव्वे सरा नियट्टन्ति
तक्का जत्थ न विज्जइ
मइ तत्थ न गाहिया
ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने
से न दीहे न हस्से न वट्टे
न तंसे न चउरंसे न परिमंडले
न किण्हे न नीले न लोहिए
न हालिद्दे न सुक्किल्ले
न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे
न तित्ते न कडुए न कसाए
न अंबिले न महुरे न कक्खडे

(९) आचारा० सू० ३-७१ (१०) आचारा० सू० ४-२६

सुमरण का आराधक

अप्पसहावे णिरओ वज्जियपरदव्वसंगसुक्खरसो ।
णिम्महियरायदोसो हवई आराहओ मरणे ॥५॥

जो अपने स्वभाव में रत है, जिसने परद्रव्य के संग से उत्पन्न होने वाले सुख रस को छोड़ दिया है और जिसने रागद्वेष का मथन कर दिया है वही मृत्यु के समय आराधक बन सकता है।

णिहयकसाओ भव्वो दंसणवंतो हु णाणसंपण्णो ।
दुविहयपरिग्गहचत्तो मरणे आराहओ हवइ ॥६॥

जिसने क्रोधादि कषायों का हनन कर दिया है जो श्रद्धावान और ज्ञान संपन्न है जिसने बाह्य और अभ्यन्तर रूप दो प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर दियाहै वही भव्य मरण के समय आराधक होता है।

सज्झायभावणाए य भाविदा होंति सव्वगुत्तीओ ।
गुत्तीहिं भाविदाहिं मरणे आराधओ होदि ॥७॥

स्वाध्याय की भावना (अभ्यास) से सभी गुप्तिएँ (मन, वचन और काय को वश में करना) अभ्यस्त हो जाती हैं और गुप्तियों के अभ्यास से मरण के समय श्रमण आराधन करने में तत्पर हो जाता है।

ण य अत्थि कोवि वाही ण य मरणं अत्थि मे विसुद्धस्स ।
वाही मरणं काए तहा दुक्खं ण मे अत्थि ॥८॥

मेरे कोई रोग नहीं है और न मेरे मृत्यु ही है, मैं तो विशुद्ध हूँ। व्याधि और मरण तो शरीर में होते हैं; इस लिए व्याधि और मौत का मुझे कोई दुःख नहीं है।

णाणपदीओ पज्जलइ जस्स हियए विसुद्धलेस्सस्स ।
जिणदिट्ठमोक्खमग्गे पणासणभयं ण तस्सत्थि ॥९॥

विशुद्ध लेश्या (भाव) वाले जिस साधक के हृदय में ज्ञान का प्रदीप जल रहा है उसके जिन भगवान के द्वारा दिखलाये गये मुक्ति के मार्ग में विनाश का भय नहीं है।

---

(५) अराधना० १६ (६) अराधना १७ (७) भग० आ० ११०
(८) अराधना० १०२ (९) भग० आ० ७६७

अध्याय १७

प्रशस्त मरण की भावना और मरण की अनिवार्यता

[मरण एक अनिवार्य घटना है। यह एक अभ्रान्त सत्य है; फिर भी आदमी मौत से बेहद डरता है। मौत का शांति से स्वागत नहीं करना कलाहीन मृत्यु है। इस अध्याय में मरण का कलात्मक विश्लेषण करने वाली गाथाओं का संग्रह है।]

अण्णे कुमरणमरणं अरोयजम्मंतराइं मरिओसि ।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव ॥१॥

हे जीव तुम पहले अनेक जन्मांतरों में कुमरण से मरे हो। अब तो जरा मरण के विनाश करने वाले सुमरण की भावना भावो।

धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं ।
जदि दोहिंवि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं ॥२॥

धैर्यवान को भी मरना होगा और धैर्यहीन को भी अवश्य ही मरना होगा। यदि दोनों को ही मरना है तो फिर धीरता से ही मरना चाहिए।

सीलेण वि मरिदव्वं णिस्सीलेण वि अवस्स मरिदव्वं ।
जइ दोहिंवि मरियव्वं वरं हु सीलत्तणेण मरियव्वं ॥३॥

शीलवान को भी मरना है और शील रहित को भी जरूर मरना है, यदि दोनों को ही जरूर मरना है तो फिर शील के साथ ही मरना अच्छा है।

कुमरण

सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं जलप्पवेसो य ।
अणयाइभंडसेवी जम्मणमरणाणुबंधीणी ॥४॥

शस्त्र ग्रहण, विषभक्षण, आग और जल प्रवेश अथवा आचरण का विनाश करने वाली वस्तु के सेवन करने से होने वाला मरण जन्म मृत्यु की परम्परा को बढाने वाला है।

---

(१) भाव पा० ३२ (२) मूला० १०० (३) मूला १०१ (४) मूला० ७४

पंडितपंडित मरण, पंडित मरण, बालपंडित मरण; चौथा बाल मरण और पांचवाँ बालबाल मरण होता है।

पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव ।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति ॥१६॥

पंडितपंडित मरण, पंडित मरण और बालपंडित मरण इन तीन मरणों की भगवान प्रशंसा करते हैं अर्थात् ये ही मरण प्रशंसा के योग्य हैं।

अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि ।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ॥१७॥

अविरत सम्यग्दृष्टि (वह समीचीन दृष्टि (श्रद्धा) वाला आत्मा जो अभी चारित्र की ओर नहीं झुका है) के मरणों का चौथा भेद बालमरण होता है और मिथ्यादृष्टि (जिस को आत्मा पर श्रद्धा नहीं है) के पांचवां बालबालमरण।

पंडिदपंडिदमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो ।
विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण ॥१८॥

जिनकी कषायों का क्षय हो गया है ऐसे केवली भगवान के पंडित-पंडितमरण होता है और विरताविरत अर्थात् हिंसादि पांचों स्थूल पापों से विरत और उनके सूक्ष्म अंशों से अविरत पंचम गुणस्थानवर्त्ती आत्मा के तीसरा बालपंडित मरण होता है।

पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव ।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥१९॥

यथोक्त चारित्र को धारण करने वाले साधु के प्रायोपगमन, भक्त प्रत्याख्यान और इंगिनी मरण इस तरह तीन प्रकार का पंडितमरण बतलाया है।

अप्पोवयारवेक्खं परोवयारूणमिंगिणीमरणं ।
सपरोवयारहीणं मरणं पाओवगमणमिदि ॥२०॥

जिस मरण में अपनी परिचर्या स्वयं करे; दूसरों से रोगादि का

---

(१६) भग० आ० २८ (१७) भग० आ० ३० (१८) भग० आ० २७
(१९) भग० आ० २९ (२०) गो० क० ६१

तह्मा णाणुवश्रोगो खवयस्स विसेसदो सदा भणिदो ।
जह विंधणोवश्रोगो चंदयवेज्भं करंतस्स ॥१०॥

इसलिए क्षपक (कर्म क्षय करने वाला साधक) के ज्ञान का उपयोग विशेष रूप से कहा गया है। ठीक ऐसे ही जैसे चंद्रक भेद करने वाले को उसके भेद का अभ्यास करना।

श्ररिहो संगच्चाश्रो कसायसल्लेहणा य कायव्वा ।
परिसहचमूण विजश्रो उवसग्गाणं तहा सहणं ॥११॥
इंदियमल्लाण जश्रो मणगयपसरस्स तह य संजमश्रो ।
काऊण हणइ खवश्रो चिरभवबद्धाइ कम्माइं ॥१२॥

परिग्रह का त्याग, कषायों (क्रोध, मान, माया और लोभ) की सल्लेखना (कृश करना), परिषह (भूख प्यास आदि की बाधाएँ) रूपी सेनाओं को जीतना और उपसर्गों का सहना, इंद्रिय रूपी मल्लों को परास्त करना, मन रूपी हाथी के प्रसार (चेष्टाएँ) को वश में करना; ये सब करके क्षपक अनेक भवों में बांधे हुए कर्मों का नाश कर देता है।

जो रयणत्तयमइश्रो मुत्तूणं श्रप्पणो विसुद्धप्पा ।
चिंतेई य परदव्वं विराहश्रो णिच्छयं भणिश्रो ॥१३॥

जो रत्नत्रयमय अपने विशुद्ध आत्मा को छोड़ कर पर द्रव्य का चिंतना करता है वह निश्चित रूप से विराधक अर्थात् अपने संयम का नाश करने वाला है।

मरण के भेद

मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे ।
तत्थ वि य पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि ॥१४॥

जिनवाणी में तीर्थंकरों ने सत्रह प्रकार का मरण बतलाया है। उनमें से यहाँ संक्षेप से पांच प्रकार के मरणों को कहूँगा।

पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव ।
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥१५॥

(१०) भग० श्रा० ७६६ (११) आराधना० २२ (१२) आराधना० २३
(१३) आराधना० २० (१४) भग० श्रा० २५ (१५) भग० श्रा० २६

जिसकी आंखे अथवा कान दुर्बल (बिल्कुल शक्ति हीन) हो जावें तथा जंघा बल भी जिसका घट जाय और इसलिए जो विहार करने (चलने फिरने) में समर्थ न हो,

जिसके अनुकूल शत्रु चारित्र के विनाश करने वाले हों, या तीव्र दुष्काल की स्थिति उत्पन्न हो जाय अथवा महान जंगल में दिक् विमूढ़ होकर राह भूल गये हों,

जिसके असाध्य रोग हो जाय अथवा श्रामण्य (चारित्र) के योग (साध्य साधन संबंध) की विनाश करने वाली वृद्धावस्था आजाय तथा देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों द्वारा किये गये उपसर्ग (तपस्या के महान विघ्न) उपस्थित हो जावें,

अन्य भी यदि इसी प्रकार के तीव्र कारण मिल जावें तो विरत (श्रमण) और अविरत (श्रावक) भक्तप्रत्याख्यान नामक संन्यास के योग्य कहे गये हैं ।

एवं पिणद्धसंवरवम्मो सम्मत्तवाहणारूढ़ो ।
सुदणाणमहाधणुगो झाणादितवोमयसरेहिं ॥२८॥
संजमरणभूमीए कम्मारिचमूपराजिणियसव्वं ।
पावदि संजमजोहो अणोवमं मोक्खरज्जसिरिं ॥२९॥

इस प्रकार जिसने संयम रूपी कवच बांध लिया है, जो सम्यक्त्व रूप वाहन पर आरूढ है, जो श्रुतज्ञान रूप धनुष को धारण करने वाला है वह ध्यान आदि तप मय बाणों से,

संयम रूपी रणभूमि में सम्पूर्ण कर्मरूपी सेना को परास्त करके संयमी रूपी योद्धा अनुपम मोक्ष राज्य की लक्ष्मी को प्राप्त होता है ।

हंतूण रायदोसे छेत्तूण य अट्ठकम्मसंकलियं ।
जम्मणमरणरहट्टं भेत्तूण भवाहिं मुच्चहिसि ॥३०॥

इस प्रकार हे जीव रागद्वेष को नष्ट कर, आठ कर्मों की शृंखला का भेदन कर और जन्म मरण के अरहट को विनाश कर तुम संसार से छूट जावोगे ।

---

(२८) भग० आ० १८५५ (२९) भग० आ० १८५६ (३०) मूला० ९०

उपचार न करावे वह इंगिनी मरण कहलाता है किन्तु जिसमें अपनी परिचर्या न स्वयं करे और न दूसरे से करावे वह प्रायोपगमन मरण कहलाता है।

भत्तपइण्णाइविहि जहण्णमंतोमुहुत्तयं होदि।
बारसवरिसा जेट्ठा तम्मज्झे होदिमज्झिमया ॥२१॥

भक्तप्रत्याख्यान (भोजन का त्याग) नामक मरण की विधि का समय जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष है तथा इन दोनों के बीच का समय मध्यम भक्तप्रत्याख्यान विधि के काल भेद हैं।

उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णमणदिचारं वा।
णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि ॥२२॥
तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णा अणुवट्ठिदे भये पुरदो।
सो मरणं पच्छितो होदि हु सामण्णणिव्विण्णो ॥२३॥

जिस के सुख पूर्वक चिरकाल से श्रामण्य (संयम साधन) की प्रवृत्ति हो रही है और जिस के चारित्र में किसी प्रकार का अतिचार नहीं लग रहा है तथा जिसको निर्यापक (पंडित मरण की आराधना के सहकारी) कभी भी सुलभ हो सकते हैं, दुष्काल का भय भी नहीं है और जिसके आगे कोई भय उपस्थित नहीं है ऐसे श्रमण के भक्तप्रत्याख्यान नामक मरण उचित नहीं है, फिर भी यदि वह मरण को चाहेगा तो उसका श्रामण्य नष्ट हो जायगा।

चक्खुव दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स।
जंघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा ॥२४॥
अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स।
दुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा ॥२५॥
वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य समण्णजोग्गहाणिकरी।
उवसग्गा वा देवियमाणुसत्तोरिच्छया जस्स ॥२६॥
अण्णम्मि चावि एदारिसम्मि आगाढ़कारणे जादे।
अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा ॥२७॥

(२१) गो० क० ६० (२२) भग० आ० ७५ (२३) भग० आ० ७६
(२४) भग० आ० ७३ (२५) भग० आ० ७२ (२६) भग० आ० ७१
(२७) भग० आ० ७४

विभिन्न प्रकार के पुद्गल

सद्दो वंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमच्छाया ।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥४॥

शब्द, वंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान (विभिन्न आकृतियां), भेद (टुकडे होना), अंधेरा, छाया, प्रकाश और आतप ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं।

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति ।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥५॥

पुद्गल पिण्डात्मक संपूर्ण वस्तु को स्कंध कहते हैं। उसका आधा हिस्सा देश कहलाता है और आधे का आधा प्रदेश। जिसका फिर विभाग नहीं हो सके वह परमाणु कहा जाता है।

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं ।
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥६॥

अणु और स्कंध के भेद से पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं। इनमें परमाणु स्वभाव पुद्गल (शुद्ध पुद्गल) है और स्कंध विभाव पुद्गल। परमाणु के भी दो भेद हैं कारण परमाणु और कार्य परमाणु। स्कंध के छः भेद हैं जिनको आगे कह रहे हैं।

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणंति तं णेयो ।
खंधाणां अवसाणो णादव्वो कज्जपरमाणू ॥७॥

पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार धातुओं का जो कारण है वह कारण परमाणु और स्कंधों की समाप्ति होते २ जो अंत में परमाणु रह जाय वह कार्य परमाणु कहलाता है।

परमाणु

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू ।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥८॥

जो सब स्कंधों का अंतिम हिस्सा है वही परमाणु है। परमाणु का

---

(४) द्रव्य० १६ (५) पंचास्ति० ७५ (६) नियम० २०
(७) नियम० २५ (८) पंचास्ति० ७७

अध्याय १८

अजीव अथवा अनात्मा

[अजीव अथवा अनात्मा के विषय में जैन दर्शन की मान्यता का प्रतिपादन करने वाली गाथाओं का इस अध्याय में वर्णन है। परमाणु आदि अनेक जड पदार्थों के संबंध में यहां मौलिक प्रतिपादन मिलेगा।]

अजीव का लक्षण

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं ।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं ॥१॥

जिसके सुख और दुख का ज्ञान, हित का उद्यम और अहित से डरना कभी भी नहीं होता, श्रमण उसे अजीव कहते हैं।

अजीव के भेद

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्मआयासं ।
कालो पुग्गलमुत्तो रूवादिगुणो अमुत्तिसेसा दु ॥२॥

अजीव के पांच भेद हैं :—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनमें पुद्गल रूप, रस, गंध और स्पर्श वाला होने के कारण मूर्त्त और अवशिष्ट चार द्रव्य अमूर्त्त हैं।

पुद्गल द्रव्य

उवभोज्जमिंदिएहिं य इंदियकाया मणो य कम्माणि ।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे ॥३॥

जो इन्द्रियों के द्वारा उपभोग्य है वह सब पुद्गल है। स्पर्शन आदि पांचों इन्द्रियां, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण ये पाँचों शरीर, मन, ज्ञानावरणीयादि आठों कर्म और इनके सिवाय जो कुछ मूर्त्त है वह सब पुद्गल है।

---

(१) पंचास्ति० १२५ (२) द्रव्य० १५ (३) पंचास्ति० ८२

पुद्गलस्कंध

भूपव्वदमादिया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा ।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया ॥१४॥
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य ॥१५॥
सुहुमा हवंति खंधा पावोग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंदि ॥१६॥

स्कंध के छः भेद हैं :—

अति स्थूल स्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म, और अति सूक्ष्म ।

पृथ्वी, पर्वत, पत्थर, कुर्सी, टेबिल इत्यादि बहुत बड़े स्कंध अतिस्थूल स्थूल कहलाते हैं, क्योंकि इनका छेदन भेदन हो सकता है और ये दूसरी जगह ले जाये जा सकते हैं । (इन्हें गोम्मटसार आदि शास्त्रों में स्थूल स्थूल अथवा बादर बादर भी कहा गया है) स्थूल पुद्गल उन्हें कहते हैं जिनका छेदन भेदन न हो सके, किंतु जिन्हें अन्यत्र ले जाया जा सके जैसे जल, तेल आदि द्रव पदार्थ । स्थूल सूक्ष्म अथवा बादर सूक्ष्म उन पुद्गल स्कंधों को कहते हैं जिनका छेदन भेदन न हो सके और जिन्हें अन्यत्र भी न ले जाया जा सके; किंतु जो आंखों से दीखते हों जैसे छाया, चांदनी, धूप, प्रकाश आदि सूक्ष्म स्थूल या सूक्ष्म बादर उस पुद्गल स्कंध को कहते हैं जो नेत्र इंद्रिय को छोड़ कर शेष चार इंद्रियों का विषय हो जैसे शब्द गंध रस और स्पर्श । सूक्ष्म उस पुद्गल को कहते हैं जिसका किसी इंद्रिय से ग्रहण न हो जैसे कर्मस्कंध । सूक्ष्म सूक्ष्म अथवा अति सूक्ष्म वे पुद्गल स्कंध कहलाते हैं जो इनसे विपरीत होते हैं अर्थात् जो कर्म बनने के योग्य नहीं है । (गोम्मट सार जीवकांड में परमाणु को सूक्ष्म सूक्ष्म या अति सूक्ष्म कहा है) ।

धर्म द्रव्य

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ॥१७॥

---

(१४) नियम० २२ (१५) नियम० २३ (१६) नियम० २४ (१७) द्रव्य० १७

विभाग नहीं हो सकता। वह शाश्वत (नित्य) तथा शब्द रहित; किन्तु रूप, रस, गंध और स्पर्शात्मक होता है।

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं ।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि ॥९॥

जो स्वयं ही अपनी आदि है, जो स्वयं ही अपना मध्य है और जो स्वयं ही अपना अन्त है, जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है और जो अविभागी है (जिसमें टुकड़े नहीं हो सकते) वही परमाणु है।

एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं ।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि ॥१०॥

परमाणु में एक रस, एक रूप और एक गंध तथा दो स्पर्श होते हैं; यद्यपि वह शब्द का कारण है, किन्तु स्वयं शब्द रहित है। वह स्कंध में छिपा हुआ है तो भी परिपूर्ण द्रव्य है।

पुद्गलों का बंधन

णिद्धत्तं लुक्खत्तं बंधस्स य कारणं तु एयादी ।
संखेज्जासंखेज्जाणंतविहा णिद्धलुक्खगुणा ॥११॥

स्निग्धत्व और रूक्षत्व बंध के कारण हैं और इन दोनों के एक से लेकर संख्यात, असंख्यात एवं अनंत भेद हैं।
[स्निग्धत्व और रूक्षत्व पुग्दलों के स्पर्श गुण पर्याय हैं।]

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण ।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेज्ज बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥१२॥

एक स्निग्ध परमाणु का दूसरे दो गुण अधिक स्निग्ध परमाणु से बंध होता है। एक रूक्ष परमाणु का दूसरे दो गुण अधिक रूक्ष परमाणु से बंध होता है तथा एक स्निग्ध परमाणु का दूसरे दो गुण अधिक रूक्ष परमाणु से बध होता है। सम (दो, चार, छः आदि), विषम (तीन, पांच, सात आदि) दोनों का बंध होता है; किंतु जघन्य गुणवालों का कभी बंध नहीं होता।

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥१३॥

(९) नियम० २६ (१०) पंचास्ति० ८१ (११) गो० जी० ६०८
(१२) गो० जी० ६१४ (१३) नियम० २१

जो लोक में समस्त जीवों को एवं सब पुद्गलों को तथा शेष सब पदार्थों को रहने के लिए पूरा अवकाश देता है उसे आकाश कहते हैं।

काल द्रव्य

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य ।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालो त्ति ॥२३॥

काल द्रव्य पांच वर्ण और पांच रस रहित, दोनों गंध और आठ स्पर्श रहित, अगुरुलघु गुण वाला, अमूर्त्त और वर्त्तना लक्षण वाला होता है (द्रव्य को अपनी सीमा में रखने वाला)।

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो ।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो ॥२४॥

व्यवहार काल का निश्चय जीव और पुद्गलों के परिणमन से होता है और जीव तथा पुद्गलों का परिणमन बिना निश्चय काल के नहीं होता। दोनों का यही लक्षण है। व्यवहार काल क्षणभंगुर है और निश्चय काल नित्य है।

सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च ।
परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो ॥२५॥

सद्भाव स्वभाव वाले जीव और पुद्गलों के परिवर्त्तन को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि निश्चय काल अवश्य है। यदि निश्चय काल नहीं होता तो जीव और पुद्गलों का परिवर्त्तन नहीं हो सकता था अर्थात जीव और पुद्गलों के परिणमन रूप अन्यथानुपपत्ति से निश्चय काल जाना जाता है और जो निश्चय काल के पर्यायरूप व्यवहार काल है वह जीव और पुद्गलों के परिणमन से अभिव्यज्यमान होने के कारण उसके आश्रित ही जाना जाता है।

णत्थि चिरं वा खिप्पं मत्तारहिदं तु सा वि खलु मत्ता ।
पोग्गलदव्वेण विणा तम्हा कालो पडुच्चभवो ॥२६॥

चिर (देर से होने वाला) और क्षिप्र (जल्दी होने वाला) ये सब बिना माप के नहीं हो सकता और वह माप भी पुद्गल द्रव्य के बिना नहीं हो

---

(२३) पंचास्ति० २४ (२४) पंचास्ति० १०० (२५) पंचास्ति० २३
(२६) पंचास्ति० २६

गतिरूप परिणत जीव और पुद्गलों को जो गमन में सहकारी कारण है वह धर्म द्रव्य है जैसे मछलियों के चलने के लिए जल; किन्तु धर्म द्रव्य जो स्वयं नहीं चल रहे हैं उन्हें बलपूर्वक नहीं चला सकता।

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं ।
लोगागाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं ॥१८॥

धर्मास्तिकाय रस रहित, वर्ण एवं गंध रहित, शब्द और स्पर्श रहित, संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त, अखण्ड विशाल और असंख्यात प्रदेशी है।

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स ।
हवदि गदिस्सप्पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च ॥१९॥

धर्म द्रव्य स्वयं गमन नहीं करता और न अन्य द्रव्य को गमन कराता है; किन्तु जीव और पुद्गल स्वयं चल रहे हों तो उनकी गति में कारण बन जाता है।

अधर्मद्रव्य

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥२०॥

स्वयं स्थिति रूप परिणत जीव और पुद्गलों की स्थिति में जो सहकारी कारण है वह अधर्म द्रव्य है जैसे चलते हुए पथिकों के ठहरने में छाया; किन्तु यह चलते हुए जीव और पुद्गलों को ठहरने की प्रेरणा नहीं करता।

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं ।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥२१॥

जैसे धर्मद्रव्य गति में कारण है वैसे ही अधर्म द्रव्य स्थितिरूप परिणत जीव और पुद्गलों की स्थिति में कारण भूत है, जैसे पृथ्वी।

आकाश द्रव्य

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च ।
जं देदि विवरमखिलं तं लोगे हवदि आगासं ॥२२॥

---

(१८) पंचास्ति० ८३ (१९) पंचास्ति० ८८ (२०) द्रव्य० १८
(२१) पंचास्ति० ८६ (२२) पंचास्ति० ९०

अध्याय १९

विविध

[इस अध्याय में किसी एक विषय की नहीं अपितु विभिन्न विषयों की जीवनोपयोगी गाथाओं का वर्णन है। उन्हें हृदयंगम कर पाठक को बडी प्रेरणा मिलती है।]

मेहा होज्ज न होज्ज व लोए जीवाण कम्मवसगाणं ।
उज्जाओ पुण तह वि हु णाणंमि सया न मोत्तव्वो ॥१॥

लोक में कर्म के अधीन जीवों के मेधा हो चाहे न हो, ज्ञान की प्राप्ति के लिए उद्यम कभी नहीं छोडना चाहिए।

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ ॥२॥

देह वंदनीय नहीं होता, कुल और जाति भी वंदनीय नहीं होते। न गुणहीन श्रमण ही वंदनीय होता है और न श्रावक, फिर मैं किस गुणहीन की वंदना करूं ?

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥३॥

इस संसार में जीव के चार-परमअंग-उत्कृष्ट-संयोग दुर्लभ हैं:— मनुष्यत्व, धर्मश्रुति, धर्मश्रद्धा और संयम में शक्ति लगाना।

को धम्मो जीवदया, किं सोक्खमरोग्गया उ जीवस्स ।
को णेहो सब्भावो, किं पंडिच्चं परिच्छेओ ॥
को विसमं कज्जगदी, किं लद्धव्वं जणो गुणग्गाही ।
किं सुहगेज्झं सुयणो, किं दुग्गेज्झं खलो लोओ ॥४॥

धर्म क्या है ? जीवों पर दया करना। सौख्य क्या है ? जीव का निरोग रहना। स्नेह क्या है ? सद्भाव रखना। पांडित्य क्या है ? हिताहित

---

(१) प्रा० सा० इ० पेज ५१६ (२) दर्शन पा० २७ (३) उत्तरा० ३-१
(४) प्रा० सा० इ० पेज ४६६

सकती इसलिए व्यवहार काल प्रतीत्य भव है अर्थात वह पर के आश्रय से उत्पन्न होता है।

कालोत्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ॥२७॥

'यह काल है', 'यह काल है' इस प्रकार का व्यपदेश काल के सद्भाव को सिद्ध करने वाला है। यह काल नित्य है, यही निश्चय काल है और जो उत्पन्न प्रध्वंसी है वह व्यवहार काल है। वह उत्पन्न प्रध्वंसी होकर भी पल्य सागर आदि के रूप में व्यवहृत हो सकता है।

समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती।
मासोदुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो ॥२८॥

समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाली, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और संवत्सर ये सब पराश्रित हैं अर्थात व्यवहार काल पराश्रित बतलाया गया है।

परमाणु को मंद गति द्वारा आकाश के एक प्रदेश से अंतर रहित दूसरे प्रदेश तक पहुँचने में जितना काल लगता है वह समय कहलाता है। खुली आंख के मीचने में जा समय लगे वह निमेप कहलाता है। पंद्रह निमेप की एक काष्ठा होती है और तीस काष्ठा की एक कला। बीस से कुछ अधिक कला की एक घडी और दो घडी का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है। तीस अहोरात्र का एक मास, दो मास का एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन और दो अयन का एक वर्ष होता है।

---

(२७) पंचास्ति० १०१ (२८) पंचास्ति० २५

जो पाथेय (मार्ग का भोजन) न लेकर लंबी यात्रा को निकलता है वह मार्ग में जाता हुआ भूख एवं प्यास से पीडित होकर दुखी होजाता है; इसी तरह धर्म न कर जो पर भव को जाता है वह रास्ते में जाता हुआ व्याधि और रोगों से पीडित होकर दुखी हो जाता है।

किन्तु जो मार्ग का भोजन लेकर लंबी यात्रा को निकलता है वह मार्ग में जाता हुआ क्षुधा एवं तृषा से पीडित नहीं होकर सुखी होता है; इसी तरह धर्म करके जो परभव को जाता है वह मार्ग में जाता हुआ किसी प्रकार की वेदना को नहीं पाता हुआ सुखी होता है।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥११॥

दुर्जय संग्राम में लाखों आदमियों को जीतने की अपेक्षा एक आत्मा को ही जीत लो। क्योंकि मनुष्य की यही सबसे बड़ी जीत है।

न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे।
सूयलाभे न मज्जेज्जा, जच्चा तवसि बुद्धिए ॥१२॥

विवेकी पुरुष दूसरे का तिरस्कार न करे और न अपनी प्रशंसा करे। अपने शास्त्र ज्ञान, जाति और तप तथा बुद्धि का अभिमान न करे।

निस्संते सियामुहरी, बुद्धाणं अन्तिए सया।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उवज्जए ॥१३॥

सदा शान्त रहो, सोच कर बोलो, सदा विद्वानों के पास रहो। अर्थ-युक्त बातों को सीखो और निरर्थक बातों को छोड़ दो।

थेवं थेवं धम्मं करेह जइ ता बहुं न सक्केह।
पेच्छह महानईओ बिंदूहिं समुद्दभूयाओ ॥१४॥

यदि अधिक न कर सको तो थोडा थोडा ही धर्म करो। महानदियों को देखो, बूंद बूंद से वे समुद्र बन जाती हैं।

आयावयाही चय सोअमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संसराए ॥१५॥

आत्मा को तपाओ, सुकुमारता (नजाकत) छोड़ो, कामना को दूर करो, निश्चित रूप से दुःख दूर होगा। द्वेष का नाश करो, राग भाव को दूर करो इस प्रकार प्रवृत्ति करने से तुम संसार में सुखी हो जाओगे।

---

(११) उत्तरा० ९-३४ (१२, दशवै० ८-३० (१३) उत्तरा० १-८
(१४) प्रा० सा० इ० पेज ४४७ (१५) दशवै० २-५

का विवेक। विषम क्या है? कार्य की गति (ज्ञान या प्राप्ति)। किसे प्राप्त करना चाहिए? गुणग्राही मनुष्य को। सुख पूर्वक ग्रहण करने योग्य कौन है? सज्जन। दुःख पूर्वक या कठिनता से वश में करने योग्य कौन है? दुर्जन लोग।

जाव न जरकडपूयणि सव्वंगयं गसइ।
जाव न रोयभुयंगु उग्गु निद्दउ डसइ॥
ताव धम्मि मणु दिज्जउ किज्जउ अप्पहिउ।
अज्ज कि कल्लि पयाणउ जिउ निच्चप्पहिउ॥५॥

जब तक जरारूपी राक्षसी सारे शरीर के अंगों को न ग्रस ले और जब तक उग्र एवं निर्दय रोग रूपी भुजंग न डसले तबतक (उसके पहले ही) धर्म में मन लगा और आत्मा का हित करो क्योंकि आज या कल जीव को निश्चय ही प्रयाण करना पड़ेगा।

पंचवि इंदियमुंडा वचमुंडा हत्थपायमणमुंडा।
तणु मुंडेण य सहिया दसमुंडा वण्णिदा समये॥६॥

शास्त्र में दस प्रकार के मुंडाओं का वर्णन किया गया है। मुंडा का अर्थ वश में करना है। वश में करना अर्थात् उनकी अन्यथा प्रवृत्ति नहीं होने देना। पांचों इंद्रियों को वश में करना, पांच इन्द्रियमुंडा। वचन की अन्यथा प्रवृत्ति न होने देना, वचोमुंडा। हाथ, पैर और मनको वश में करना, क्रमशः हस्त मुंडा, पदमुंडा और मनोमुंडा है। और जब इन नौ मुंडाओं में शरीर मुंडा भी मिल जाती है तो दस मुंडा होजाती हैं।

अद्धाणं जो महंतं तु अप्पाहेओ पवज्जई।
गच्छंतो सो दुही होइ, छुहातण्हाए पीडिओ॥७॥
एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छंतो सो दुही होइ, वाहीरोगेहिं पीडिओ॥८॥
अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेओ पवज्जई।
गच्छंतो सो सुही होइ, छुहातण्हाविवज्जिओ॥९॥
एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छंतो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे॥१०॥

---

(५) प्रा० सा० इ० पेज५५८ (६) मूला० १२१ (७) उत्तरा० १९-१८
(८) उत्तरा० १९-१९ (९) उत्तरा० १९-२० (१०) उत्तरा० १९-२१

जीव मात्र में मित्रता का विचार करना मैत्री, दुखियों में दया करना करुणा, महान आत्माओं के गुणों का चिंतन करना मुदिता और सुख तथा दुःख में समान भावना रखना उपेक्षा कहलाती है।

तक्कविहूणो विज्जो लक्खणहीणो य पंडिओ लोए।
भावविहूणो धम्मो तिण्णि वि गरुई विडम्बणया ॥२२॥

तर्क (ऊहापोह–विवेक) रहित वैद्य, लक्षण रहित पंडित, और भाव रहित धर्म ये तीनों ही भारी विडंबनाएँ हैं।

कोई डहिज्ज जह चंदणं णरो दारुगं च बहुमोल्लं।
णासेइ मणुस्सभवं पुरिसो तह विसयलोहेण ॥२३॥

जैसे कोई आदमी चंदन को और बहुमूल्य अगर आदि काष्ठ को जलाता है वैसे ही यह मनुष्य विषयों की तृष्णा से मनुष्य भव का नाश कर देता है।

दारेव दारवालो हिदये सुप्पणिहिदा सदी जस्स।
दोसा धंसंति णं तं पुरं सुगुत्तं जहा सत्तू ॥२४॥

दरवाजे पर द्वारपाल के समान जिसके हृदय में वस्तु तत्त्व का चिंतन है उस मनुष्य को दोष विनाश नहीं कर सकते, जैसे अच्छी तरह रक्षा किये हुए नगर को शत्रु।

गंथाड़वीचरंतं कसायविसकंटया पमायमुहा।
विंधंति विसयतिक्खा अधिदिदढोवाणहं पुरिसं ॥२५॥

परिग्रह रूपी जंगल में चरते हुए एवं जिसके पास धैर्य रूपी दृढ़ जूते नहीं हैं ऐसे मनुष्य को विषयों से तीखे, प्रमादादि कषाय रूपी विष कंटक वींध डालते हैं।

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥२६॥

जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप जान सके, जिससे चित्त का व्यापार रुक जावे और जिससे आत्मा विशुद्ध होजावे; जिनशासन में वही ज्ञान कहलाता है।

जेण रागाविरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मेत्ती पभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ॥२७॥

---

(२२) प्रा०सा०इ० पेज ५६५ (२३) भग० आ० १८३० (२४) भग० आ०१८४२
(२५) भग० आ० १४०१ (२६) मूला० २६७ (२७) मूला० २६८

जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जई सव्वसो ।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥१६॥

जैसे सड़े हुए कानवाली कुतिया सब जगह से हटा दी जाती है उसी तरह दुःशील, ज्ञानियों के प्रतिकूल रहने वाला और वाचाल मनुष्य सब जगह से निकाल दिया जाता है ।

थंभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो, फलं व कीयस्स वहाय होई ॥१७॥

गर्व, क्रोध, माया और प्रमाद के अधीन होकर जो गुरु के पास विनय की शिक्षा न ले, उसकी यही बात, उसकी अभूति (विपत्ति) का कारण है । जैसे बांस का फल उस (बांस) के नाश का कारण होता है ।

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहि ।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥१८॥

अज्ञानी उग्र तपों से जितने कर्मों को अनेक भवों में नष्ट करता है, तीनों गुप्तियों सहित ज्ञानी उतने ही कर्मों को अन्तर्मुहूर्त्त में नष्ट कर डालता है ।

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो ।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥१९॥

तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप व्यर्थ है; इसलिये ज्ञान और तप से संयुक्त मनुष्य ही निर्वाण को प्राप्त होता है ।

घोडगलिंडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स ।
बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स ॥२०॥

घोड़े की लीद के समान जो भीतर संतप्त है और जिसकी चेष्टा बगुले की तरह है ऐसे मनुष्य की बाहिरी क्रिया क्या करेगी? अर्थात् अभ्यंतर शुद्ध हुए बिना उसे क्या लाभ होगा?

[यहां घोड़े की लीद का इसलिए दृष्टान्त दिया गया है कि वह बाहर से कोमल होती है किन्तु उसी प्रकार भीतर से कोमल नहीं होती ।]

जीवेसु मित्तचिंता मेत्ती करुणा य होइ अणुकम्पा ।
मुदिदा जदिगुणचिंता सुहदुक्खधियासणमुवेक्खा ॥२१॥

---

(१६) उत्तरा० १–४ (१७) दशवै० ९–१–१ (१८) मोक्ष पा० ५३
(१९) मोक्ष पा० ५९ (२०) भग० आ० १३४७ (२१) भग० आ० १६९६

जिसे तू मारने की इच्छा करता है वह भी तेरे जैसा ही सुख दुःख का अनुभव करने वाला प्राणी है। जिसपर हुकूमत करने की इच्छा करता है वह भी तेरे जैसा ही प्राणी है। जिसे दुःख देने का विचार करता है वह भी तेरे जैसा ही प्राणी है। जिसे अपने वश में करने की इच्छा करता है वह भी तेरे जैसा ही प्राणी है। जिसके प्राण लेने की इच्छा करता है, विचार कर, वह भी तेरे ही जैसा प्राणी है। सत्पुरुष इसी प्रकार विवेक रखता हुआ जीवन विताता है। वह न किसी को मारता है और न किसी का घात करवाता है। जो हिंसा करता है उसका फल पीछे उसे ही भोगना पड़ता है; अतः वह किसी भी प्राणी की हिंसा करने की कामना न करे।

इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ ।
जुद्धरिहं खलु दुल्लहं ॥३३॥

इस अभ्यंतर शत्रु से युद्ध करो। बाहर के शत्रु से युद्ध करने से तुम्हें क्या लाभ ? युद्ध के योग्य शत्रु वास्तव में दुर्लभ हैं।

दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छिज्जा नो लोगस्सेसणं चरे ।
जस्स नत्थि इमा जाई अण्णा तस्स कओसिया ॥३४॥

रूपों में – संसार के विषयों में – निर्वेद (विरति) को प्राप्त हो। लोकैषणा – लौकिक विषय भोगों–अथवा ख्याति की कामना मत कर। जिसके लोकैषणा नहीं होती उसके अन्य पाप प्रवृत्तियाँ कैसे हो सकती हैं ?

अत्थि सत्थं परेण परं ।
नत्थि असत्थं परेण परं ॥३५॥

शस्त्र एक से बढ़कर एक है। अशस्त्र (अहिंसा) से बढ़कर कोई शस्त्र नहीं है।

जो एगं जाणइ से सव्वं जाणइ ।
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ।
सव्वओ पमत्तस्स भयं सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं ॥३६॥

जो एक को जानता है वह सब को जानता है।
जो सब को जानता है वह एक को जानता है।

---

(३३) आचारा० सू० ५–३३ (३४) आचारा० सू० ४–३
(३५) आचारा० सू० ३-६६ (३६) आचारा० सू० ३-६२, ६३

जिससे रागभाव से विरक्ति, जिससे आत्मकल्याण में अनुरक्ति और जिससे सर्व जीवों में मैत्री भाव प्रभावित हो, जिन शासन में वही ज्ञान कहलाता है।

रागी बंधइ कम्मं मुच्चइ जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवएसो समासदो बंधमोक्खाणं ॥२८॥

रागी जीव कर्मों को बांधता है और विरागी कर्मों से छूटता है। बंधन और मुक्ति के विषय में संक्षेप से यही जिनोपदेश है।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥२९॥

जिसके शरीर आदि बाह्य पदार्थों में यदि परमाणु प्रमाण भी इच्छा है, वह सारे आगमों का ज्ञान रख कर भी सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता।

से मेहावी अणुग्घायणखेयण्णे ।
जे य बन्धपमुक्ख मन्नेसी ॥३०॥

जो पुरुष बंधन से मुक्त होने का उपाय खोजता है वही बुद्धिमान और कर्मों के विदीर्ण करने में निपुण है।

इह आरामं परिण्णाए अल्लीणे गुत्ते
आरामो परिव्वए ॥३१॥

इस संसार में संयम ही सच्चा आराम है। यह जानकर मुमुक्षु इन्द्रियों को वश में करके संयम में लीन हो उसका पालन करे।

तुमंसि नाम सच्चेवं जं हंतव्वंति
मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेवं
जं अज्जावेयव्वंति मन्नसि, तुमंसि
नाम सच्चेवं जं परियावेयव्वंति
मन्नसि एवं जं परिधितव्वंति
मन्नसि, जं उद्दवेयव्वंति मन्नसि
अंजू चेय पडिबुद्धजीवी
तह्मा न हंता नवि घायए
अणुसंवेयणमप्पाणेणं णं हंतव्वं
नाभिपत्थए ॥३२॥

(२८) मूला० २४७ (२९) प्रवच० ३-३९ (३०) आचारा० सू० २-९६
(३१) आचारा० सू० ५-६७ (३२) आचारा० सू० ५-५६

उवसम दया य खंती वड्ढइ वेरग्गदा य जह जहसो ।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ ॥४३॥

जैसे जैसे उपशम (मानसिक शांति) दया, क्षमा और वैराग्य बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे मोक्ष का सुख अनुभव गोचर होता जाता है।

आदेहि कम्मगंठी जावद्धा विसयरायमोहेहिं ।
तं छिंदंति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥४४॥

विषयों में उत्पन्न राग और मोह से जो आत्मा में कर्म गांठ बंधी हुई है उसे कृतार्थ लोग तप, संयम और शील गुण से छेद डालते हैं।

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं ।
विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंघो य ॥४५॥

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से ही संयम, तप और ज्ञान प्राप्त होता है। आचार्य और सम्पूर्ण संघ की विनय से ही आराधना की जा सकती है।

णाणुज्जोएण विणा जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतुं ।
गंतुं कडिल्लमिच्छदि अंधलओ अंधयारम्मि ॥४६॥

ज्ञान के प्रकाश के विना जो मनुष्य मोक्ष के मार्ग को जाना चाहता है वह अंधा, अंधकार में कडिल्ल अर्थात् ऐसे दुर्गम स्थान में जाना चाहता है जो तृण, गुल्मलता एवं वृक्षादि द्वारा चारों ओर से आवृत है।

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो ।
दीवेइ खेत्तमप्पं सूरो णाणं जगमसेसं ॥४७॥

ज्ञान का उद्योत ही सच्चा उद्योत है; क्योंकि उसके उद्योत की कहीं रुकावट नहीं है। सूरज भी उसकी समता नहीं कर सकता, क्योंकि वह अल्प क्षेत्र को प्रकाशित करता है, किन्तु ज्ञान सम्पूर्ण जगत को।

पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणं णरेण घेत्तव्वं ।
पेल्लेदूण विछूढं वालस्स घदं व तं खु हिदं ॥४८॥

हृदय के लिये अनिष्ट भी दूसरे के द्वारा कहा गया पथ्य (हितकारी)

---

(४३) मूला० ७५३ (४४) शीलपा० २७ (४५) भग० आ० १२९
(४६) भग० आ० ७७१ (४७) भग० आ० ७६८ (४८) भग० आ० ३५८

प्रमादी को सब ओर से भय रहता है।
अप्रमादी को किसी भी ओर से भय नहीं रहता।

एस वीरे पसंसिए, जे ण निव्विज्जइ आयाणाए ॥३७॥

जो संयम में खेद खिन्न नहीं होता, वही वीर और प्रशंसित है।

किमत्थि उवाही ? पासगस्स न विज्जइ नत्थिति बेमि ॥३८॥

तत्त्वदर्शी के उपाधि है या नहीं ?
तत्वदर्शी के उपाधि नहीं होती ऐसा मैं कहता हूँ।

ते कह न वंदणिज्जा, जे ते दट्ठूण परकलत्ताइं ।
धाराहयव्व वसहा, वच्चंति महिं पलोयंता ॥३९॥

वे लोग क्यों वंदनीय नहीं हैं जो पर स्त्रियों को देख कर वर्षा की धारा से आहत बैल की तरह पृथ्वी को देखते हुए चलते हैं।

कदपावो वि मणुस्सो आलोयणणिंदओ गुरुसयासे ।
होदि अचिरेण लहुओ उरुहियभारोव्व भारवहो ॥४०॥

पाप किया हुआ मनुष्य भी यदि गुरु के पास अपने पाप की निंदा और आलोचना करले तो वह बोझा उतार देने वाले पलदार की तरह तत्काल ही हलका हो जाता है।

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही किं वा नाहिइ छेय-पवागं ॥४१॥

पहले ज्ञान है और फिर दया। सब संयमी इसी क्रम से ठहरते हैं अर्थात् सब संयतों का जीवन क्रम यही है। अज्ञानी मनुष्य क्या करेगा ? कैसे कल्याण और पाप को जानेगा ?

दीसइ जलं व मयतण्हिया हु जह वणमयस्स तिसिदस्स ।
भोगा सुहं व दीसंति तह य रागेण तिसियस्स ॥४२॥

जैसे प्यासे जंगल के मृग को मृगतृष्णा जल के समान दीखती है वैसे ही राग से प्यासे जीव को भोग सुख की तरह दीखते हैं।

---

(३७) आचारा० सू० २–५६ (३८) आचारा० सू० ४–३०
(३९) प्रा० सा० इ० पेज ४७६ (४०) भग० आ० ६१५
(४१) दशवै० ४–१० (४२) भग० आ० १२५७

जैसे ढूंढने पर भी केले के पेड़ में कहीं भी (आदि मध्य और अंत में) सार नहीं मिलता, वैसे ही भोगों में कहीं थोड़ा भी सुख नहीं है।

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ॥५५॥

विनय रहित मनुष्य की सारी शिक्षा निरर्थक है। विनय शिक्षा का फल है और विनय के फल सारे कल्याण हैं।

णाणं करणविहूणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि ॥५६॥

चारित्र रहित ज्ञान, दर्शन (श्रद्धान) रहित लिंग ग्रहण-दीक्षा धारण करना और संजम रहित तप, ये सब जो कोई करता है सो निरर्थक ही करता है।

तह चेव मच्चुवग्घपरद्धो बहुदुक्खसप्पबहुलम्मि।
संसारबिले पडिदो आसामूलम्मि संलग्गो ॥५७॥

इसी प्रकार मृत्यु रूपी व्याघ्र से उपद्रुत यह जीव अनेक दुःख रूपी सर्पों से भरे हुए संसार रूपी बिल में गिरा हुआ आशा के मूल से लगगया अर्थात लटक गया।

जाणंतस्सादहिदं अहिदणियत्ती य हिदपवत्ती य।
होदि य तो से तम्हा आदहिदं आगमेदव्वं ॥५८॥

आत्मा के हित को जानते हुए ही मनुष्य के अहित की निवृत्ति और हित की प्रवृत्ति होती है। इसलिये आत्मा का हित ही सीखना चाहिए।

जो अप्पाणं जाणदि असइसरीरादु तच्चदो भिण्णं।
जाणगरूवसरूवं सो सत्थं जाणदे सव्वं ॥५९॥

जो अपवित्र शरीर से वस्तुतः भिन्न किन्तु ज्ञायक स्वरूप आत्मा को जानता है वही सम्पूर्ण शास्त्र को जानता है।

जो ण विजाणदि अप्पं णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं।
सो ण विजाणदि सत्थं आगमपाढं कुणंतो वि ॥६०॥

---

(५५) भग० आ० १२८ (५६) भग० आ० ७७० (५७) भग० आ० १०६४
(५८) भग० आ० १०३ (५९) कार्तिके० ४६३ (६०) कार्तिके० ४६४

वचन जरूर ग्रहण करना चाहिये। पकड़ कर भी बालक के मुंह में प्रवेश कराया गया घृत जैसे हितकारी है वैसे ही यह भी है।

कोधं खमाए माणं च मद्देवणाज्जवं च मायं च ।
संतोषेण य लोहं जिणदु खु चत्तारि वि कसाए ॥४६॥

क्षमा से क्रोध को, मार्दव से मान को, आर्जव से माया को और संतोष से लोभ को इस प्रकार चारों कषायों को जीतो।

जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणादि सव्वहा ।
जाणगं दिस्सदे णंतं तम्हा जंपेमि केण हं ॥५०॥

जो रूप मेरे द्वारा देखा जाता है वह तो अचेतन है, कुछ नहीं जानता और जो जानता है वह अनंत है इसलिये मैं किससे बोलूं ?

जो इच्छइ निस्सरिदुं संसारमहण्णावस्स रुंदस्स ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥५१॥

जो अति विस्तीर्ण संसार रूप महा समुद्र से निकलना और कर्म रूपी ईंधन को जलाना चाहता है वही शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है।

परदव्वरओ बज्झइ विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहि ।
एसो जिणउवएसो समासओ बंधमोक्खस्स ॥५२॥

पर द्रव्य रत आत्मा बंधता है और उससे विरत विविध कर्मों से मुक्त होता है। संक्षेप से बंध और मोक्ष के विषय में यही जिन भगवान का उपदेश है।

जध इंधणेहिं अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
तह जीवस्स ण तित्ती अत्थि तिलोगे वि लद्धम्मि ॥५३॥

जैसे आग ईंधन से और लवण समुद्र हजारों नदियों से तृप्त नहीं होता, वैसे ही तीनों लोकों की प्राप्ति हो जाने पर भी जीव की तृप्ति नहीं होती।

सुट्ठु वि मग्गिज्जन्तो कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो।
तह णत्थि सुहं मग्गिज्जंते भोगेसु अप्पं पि ॥५४॥

---

(४६) भग० आ० २६० (५०) मोक्ष० पा० २६ (५१) मोक्ष० पा० २६
(५२) मोक्ष० पा० १३ (५३) भग० आ० ११४३ (५४) भग० आ० १२'

यहां मोह उन सभी घातिया कर्मों का उपलक्षण है जो मोह के नष्ट होते ही तत्काल नष्ट हो जाते हैं।]

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो ।
पावइ तिहुयणसारं बोही जिणसासणे जीवो ॥६६॥

जिसका मान कषाय नष्ट होगया है, जिसका मिथ्यात्व (विवेक हीनता) और मोह (पर पदार्थों में रागद्वेष) चला गया है और जो सब पदार्थों में समभाव धारण करने वाला है वही जीव तीन लोक में सार स्वरूप बोधि (रत्नत्रय) को प्राप्त होता है ऐसा जिन शासन कहता है।

किं काहिदि वहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं च ।
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥६७॥

आत्म स्वभाव के विपरीत पठन पाठन आदि या प्रतिक्रमण आदि वाह्य कर्म आत्मा का क्या भला करेंगे ? नाना प्रकार के उपवास भी क्या करेंगे ? और कायोत्सर्ग भी क्या करेगा ?

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥६८॥

चारित्र ही स्वधर्म कहलाता है। सर्वजीवों में जो समभाव है, वही धर्म है और रागद्वेष रहित जीव का असाधारण परिणाम समभाव ही भाव कहलाता है।

परदव्वादो दुगई सद्दव्वादो हु सुगई हवइ ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि ॥६९॥

पर द्रव्य से दुर्गति और स्वद्रव्य से सुगति होती है। यह जानकर परद्रव्य में विरति और स्वद्रव्य में रति करो।

धण्णा ते भयवंता दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं ।
विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं ॥७०॥

वे भगवान धन्य हैं जिन्होंने दर्शन और ज्ञान रूपी श्रेष्ठ हाथों से विषयों रूपी समुद्र में पड़े हुए भव्य जीव पार उतार दिये।

---

(६६) भाव० पा० ७६ (६७) मोक्ष० पा० ६६ (६८) मोक्ष० पा० ५०
(६९) मोक्ष० पा० १६ (७०) भाव० पा० १५५

जो शरीर से भिन्न ज्ञान स्वरूप आत्मा को नहीं जानता है वह आगम का पाठ करता हुआ भी शास्त्र को नहीं जानता।

आदहिदमयाणंतो मुज्झदि मूढो समादियदि कम्मं ।
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं ॥६१॥

आत्म हित को नहीं जानता हुआ मनुष्य मोह को प्राप्त होता है अर्थात हिताहित को नहीं समझता और ऐसा मूढ मनुष्य कर्मों का ग्रहण करता है और कर्मों के ग्रहण करने से अन्तहीन भवसागर में परिभ्रमण करता रहता है।

णाणेण सव्वभावा जीवाजीवासवादिया तधिगा ।
णज्जदि इहपरलोए अहिदं च तहा हियं चेव ॥६२॥

ज्ञान से ही तथ्यभूत (वास्तविक) जीव, अजीव, आस्रव आदि सारे भाव जाने जाते हैं तथा इस लोक एवं परलोक में हित और अहित भी ज्ञान से ही जाने जाते हैं।

णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्तणावा हि ।
भवसागरं तु भविया तरंति तिहिसण्णिपायेण ॥६३॥

निर्यापक (जहाज चलाने वाला) तो ज्ञान है, ध्यान हवा है और चारित्र नाव है। इन तीनों के मेल से भव्य जीव संसार समुद्र से पार हो जाते हैं।

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहे य चारित्ते ।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥६४॥

यदि बहुत शास्त्र पढते हो और अनेक प्रकार के चारित्र धारण करते हो, किंतु यदि वे आत्माके विपरीत हैं तो बालश्रुत और बाल आचरण कहलाते हैं।

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥६५॥

धर्म वह है जो दया (अहिंसा) से विशुद्ध है। प्रव्रज्या वह है जो सभी प्रकार के परिग्रह से निर्मुक्त है। भव्यजीवों के उदय (कल्याण) का कारण देव वह है जिस का मोह चला गया है।

---

(६१) भग० आ० १०२ (६२) भग० आ० १०१ (६३) मूला० ८९८
(६४) मोक्ष० पा० १०० (६५) बोध० पा० २५

१४ पंचास्तिकायसंग्रह (कुन्दकुन्द)	सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला
१५ प्रवचनसार (कुन्दकुन्द)	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, वम्बई वि० सं० १९९१
१६ प्राकृत साहित्य का इतिहास (डा० जगदीशचन्द्र जैन)	चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी १
१७ वोधपाहुड (कुन्दकुन्द)	श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला मारोठ राजस्थान, अष्टपाहुड के अन्तर्गत
१८ षट प्राभृतादि संग्रह के अन्तर्गत द्वादशानुप्रेक्षा (वारस अणुवेक्खा)	श्री माणिकचन्द्र दिगम्वर जैन ग्रन्थ-माला, वम्वई वि० सं० १९७७
१९ भगवती आराधना (शिवकोटी आचार्य)	धर्मवीर रावजी सखाराम दोशी फलटण गल्ली सोलापुर सन् १९३५
२० भावपाहुड (कुन्दकुन्द)	श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला मारोठ राजस्थान, अष्टपाहुड के अन्तर्गत
२१ महावीर वाणी	भारत जैन महामण्डल वर्धा सन् १९५३
२२ मूलाचार (वट्टकेर)	मुनि अनन्तकीर्ति दि० जैन ग्रन्थमाला पो० गिरगांव,वंवई सन् १९१९
२३ मोक्षपाहुड (कुन्दकुन्द)	श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला मारोठ राजस्थान, अष्टपाहुड के अन्तर्गत
२४ लिंगपाहुड (कुन्दकुन्द)	श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला मारोठ राजस्थान, अष्टपाहुड के अन्तर्गत
२५ वसुनन्दि श्रावकाचार (वसुनन्दि)	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
२६ शीलपाहुड (कुन्दकुन्द)	श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला मारोठ राजस्थान, अष्टपाहुड के अन्तर्गत
२७ श्रावक प्रज्ञप्ति (उमास्वाति)	जैन ज्ञानप्रकाशक मण्डल, शराफ वाजार वम्वई सन् १९०५
२८ समयसार (कुन्दकुन्द)	अहिंसा मन्दिर १ दरियागंज दिल्ली–७ सन् १९५९

ग्रन्थानुक्रमणिका

१ आचारांग के सूक्त	जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा ३, पोर्चगीज चर्च स्ट्रीट कलकत्ता
२ आराधनासार (देवसेन)	माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई वि० सं० १६७३
३ उत्तराध्ययन	श्री अखिल भारत श्वेताम्बर स्थानक वासी जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट (सौराष्ट्र)
४ कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामिकुमार)	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई सन् १६६०
५ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड); (नेमीचन्द्र)	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बंबई
६ गोम्मटसार (जीवकाण्ड);	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बंबई
७ चारित्रपाहुड (कुन्दकुन्द)	श्री पाटनी दि० जैन ग्रंथमाला मारोठ (राजस्थान) सन् १६५० अष्टपाहुड के अन्तर्गत
७[1] जैनदर्शनसार (पं० चैनसुखदास)	श्री सद्बोध ग्रन्थमाला, मणिहारों का रास्ता जयपुर सन् १६५०
८ तत्वसार (देवसेन)	माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला वि० सं० १६७५
९ द्रव्यसंग्रह (नेमीचंद्र)	
१० दर्शनपाहुड (कुन्दकुन्द)	श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारोठ राजस्थान, अष्टपाहुड के अन्तर्गत
११ दशवैकालिक	रावबहादुर मोतीलाल बालमुकुन्द मुथा भवानी पेठ सतारा
१२ नियमसार (कुन्दकुन्द)	सेठी दि० जैन ग्रंथमाला, धनजी स्ट्रीट, बम्बई ३, सन् १६६०
१३ पंचसंग्रह	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी सन् १६६०

ग्रन्थसंकेत-सूची

१. आचारांग के सूक्त	आचारा० सू०
२. आराधनासार	आराधना०
३. उत्तराध्ययन	उत्तरा०
४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा	कार्तिके०
५. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)	गो० कर्म०
६. गोम्मटसार (जीवकाण्ड)	गो० जी०
७. चारित्रपाहुड	चारित्र पा०
७. जैनदर्शनसार	जैन दर्शन सा०
८. तत्वसार	तत्व०
६. द्रव्यसंग्रह	द्रव्य०
१०. दर्शनपाहुड	दर्शन पा०
११. दशवैकालिक	दशवै
१२. नियमसार	नियम०
१३. पंचसंग्रह	पंच० सं०
१४. पंचास्तिकाय संग्रह	पंचास्ति
१५. प्रवचनसार	प्रवच०
१६. प्राकृत साहित्य का इतिहास	प्रा० सा० इ०
१७. बोधपाहुड	बोध० पा०
१८. षट प्राभृतादि संग्रह के अन्तर्गत द्वादशानुप्रेक्षा (बारस अणुवेक्खा)	षट० प्रा० द्वा
१६. भगवती आराधना	भग० आ०
२०. भावपाहुड	भाव पा०
२१. महावीर वाणी	महा० वा०
२२. मूलाचार	मूला०
२३. मोक्षपाहुड	मोक्ष० पा०
२४. लिंगपाहुड	लिंग पा०
२५. वसुनन्दि श्रावकाचार	वसु श्रा०
२६. शीलपाहुड	शील पा०
२७. श्रावक प्रज्ञप्ति	श्रा० प्र०
२८. समयसार	समय०